संपादक

श्रीनारायण चतुर्वेदी — कृष्णवल्लभ द्विवेदी

सहयोगी लेखक आदि

डा० गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिनबरा), एफ० आर० ए० एस०, रीडर, गणित, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, भौतिक विज्ञान, किशोरी रमण इंटरमीडिएट कालेज, मथुरा।

श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, लेक्चरर, रसायन विज्ञान, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

श्री० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम०ए०, एल-एल० बी०, क्यूरेटर, प्राविंशियल म्यूज़ियम ऑफ़ आर्कियालाजी, लखनऊ।

श्री० रामनारायण कपूर, बी० एस-सी० (मेटल०), मेटलर्जिस्ट, नेशनल आयर्न एण्ड स्टील कंपनी लि०, वेलूर।

डा० शिवकण्ठ पाण्डेय एम० एस-सी०, डी०एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्रीचरण वर्मा, एम० एस-सी०, एल-एल० बी० लेक्चरर, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० सुरेन्द्रदेव वालुपुरी।

श्री० सीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, बी० काम०, लेक्चरर, अर्थ-शास्त्र, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम०ए०, डी० एस-सी० (लंदन) रीडर, इतिहास, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

डा० राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफ़ेसर, समाज-विज्ञान, लखनऊ विश्वविद्यालय।

श्री० वीरेश्वर सेन, एम०ए०, हेडमास्टर, गवर्नमेंट स्कूल ऑफ़ आर्टस् एण्ड क्राफ्टस्, लखनऊ।

श्री० ब्रजमोहन तिवारी, एम० ए०, एल० टी०, लेक्चरर, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

डा० सत्यनारायण शास्त्री, पी-एच०डी (हाइडलबर्ग)।

डा० डी० एन० मजूमदार, एम० ए०, पी-एच० डी० (कैंटब), पी० आर० एस०, एफ० आर० ए० आई०, लेक्चरर, मानव-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्यामसुन्दर द्विवेदी, बी० ए०, साहित्यरत्न।

डा० विद्यासागर दुबे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, (लंदन), डी० आई० सी०, अध्यक्ष, ग्लास-टेक्नालाजी डिपार्टमेंट, काशी हिंदू-विश्वविद्यालय।

डा० इबादुर रहमान खाँ, पी-एच० डी० (लंदन), प्रिंसिपल, बेसिक ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद।

श्री० कुँवर सेन, एम० ए० (कैंटब), बार-एट-लॉ, जूडीशियल मिनिस्टर, जोधपुर स्टेट।

श्री० भैरवनाथ झा, बी०एस-सी०, बी० एड० (एडिन०) इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल्स, यू० पी०।

प्रकाशक

राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव,

एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कंपनी लिमिटेड,

चारबाग़, लखनऊ.

संपादक

श्रीनारायण चतुर्वेदी — कृष्णवल्लभ द्विवेदी

सहयोगी लेखक आदि

डा० गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिनबरा), एफ़० आर० ए० एस०, रीडर, गणित, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, भौतिक विज्ञान, किशोरी रमण इंटरमीडिएट कालेज, मथुरा।

श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, लेक्चरर, रसायन विज्ञान, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

श्री० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम०ए०, एल-एल० बी०, क्यूरेटर, प्राविंशियल म्यूजियम ऑफ़ आर्कियालाजी, लखनऊ।

श्री० रामनारायण कपूर, बी एस-सी० (मेटल०), मेटलर्जिस्ट, नेशनल आयर्न एण्ड स्टील कंपनी लि०, वेलूर।

डा० शिवकण्ठ पाण्डेय एम० एस-सी०, डी०एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्रीचरण वर्मा, एम० एस-सी०, एल-एल० बी० लेक्चरर, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० सुरेन्द्रदेव वालुपुरी।

श्री० सीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, बी० काम०, लेक्चरर, अर्थ-शास्त्र, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम०ए०, डी० एस-सी० (लंदन) रीडर, इतिहास, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

डा० राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफ़ेसर, समाज-विज्ञान, लखनऊ विश्वविद्यालय।

श्री० वीरेश्वर सेन, एम०ए०, हेडमास्टर, गवर्नमेंट स्कूल ऑफ़ आर्टस् एण्ड क्राफ्टस्, लखनऊ।

श्री० व्रजमोहन तिवारी, एम० ए०, एल० टी०, लेक्चरर, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

डा० सत्यनारायण शास्त्री, पी-एच०डी (हाइडलबर्ग)।

डा० डी० एन० मजूमदार, एम० ए०, पी-एच० डी० (कैंटब), पी० आर० एस०, एफ़० आर० ए० आई०, लेक्चरर, मानव-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्यामसुन्दर द्विवेदी, बी० ए०, साहित्यरत्न।

डा० विद्यासागर दुबे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, (लंदन), डी० आई० सी०, अध्यक्ष, ग्लास-टेक्नालाजी डिपार्टमेंट, काशी हिंदू-विश्वविद्यालय।

डा० इबादुर रहमान खाँ, पी-एच० डी० (लंदन), प्रिंसिपल, वेसिक ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद।

श्री० कुँवर सेन, एम० ए० (कैंटब), बार-एट-लॉ, जूडीशियल मिनिस्टर, जोधपुर स्टेट।

श्री० भैरवनाथ झा, बी०एस-सी०, बी० एड० (एडिन०) इंस्पैक्टर ऑफ स्कूल्स, यू० पी०।

प्रकाशक

राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव,

एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कंपनी लिमिटेड,

चारबाग़, लखनऊ.

इस अंक की विषय-सूची

विश्व की कहानी

पृथ्वी की कहानी

मनुष्य की कहानी

पं० भृगुराज भार्गव द्वारा अवध प्रिंटिंग-वर्क्स, चारबाग, लखनऊ, में मुद्रित तथा
एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कम्पनी लिमिटेड, चारबाग, लखनऊ, के लिए प्रकाशित

विश्व
की कहानी
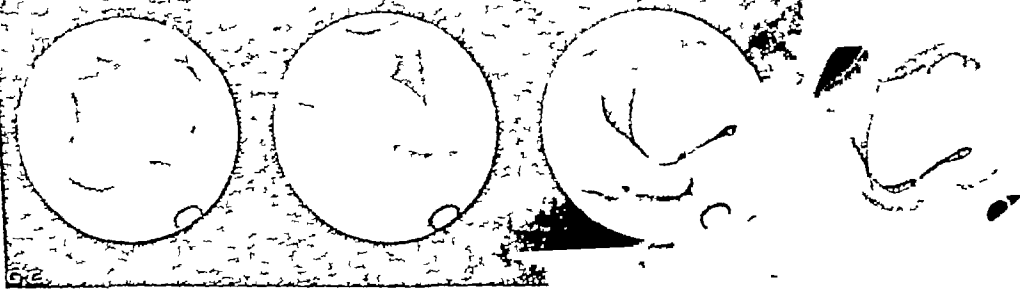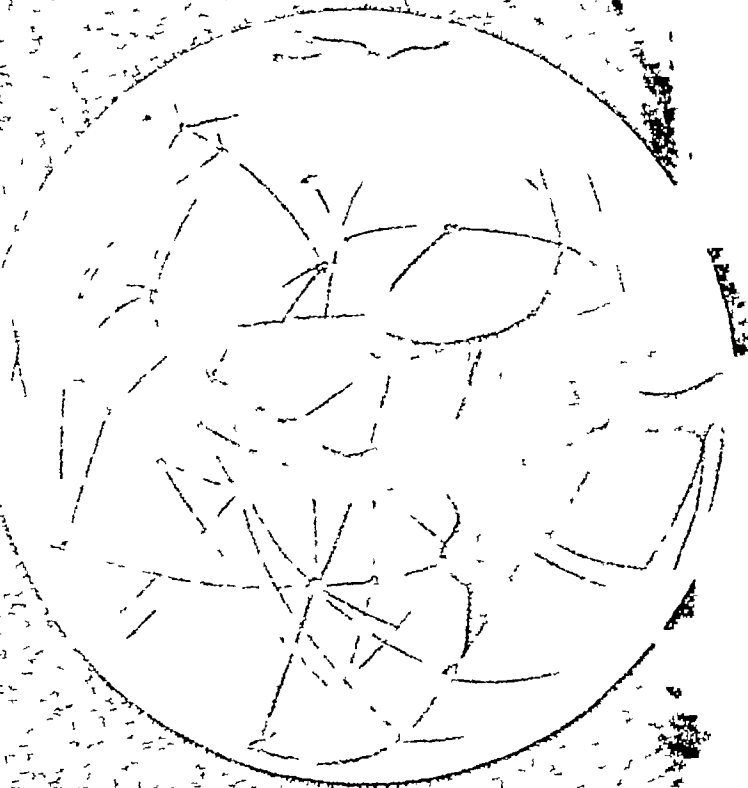
मगल ग्रह और उसकी नहरें

दूरदर्शक में दिखाई देनेवाली नहरें-जैसी धुँधली रेखाओं के कारण, मगल आज दिन सौर परिवार में हमारे लिए सबसे अधिक रहस्यमय आकाशीय पिण्ड हो गया है। इन रेखाओं के अलावा मगल के ध्रुव-प्रदेश पर एक सफ़ेद चकत्ता भी दिखाई पड़ता है, जिसे बहुत-से ज्योतिषी बर्फ़ मानते हैं। ज्योतिषियों ने—विशेषकर लॉवेल ने—बड़े परिश्रम से मगल का ब्योरेवार नक़्शा भी बना डाला है और उसमें जल-स्थल भाग, नहरें आदि निर्धारित कर उनके नाम भी रख दिए हैं।

चित्र के निचले भाग में एक ही महीने में दूरदर्शक द्वारा दिखाई दिए मगल के चार विभिन्न रूप दिए गए हैं।

मंगल—(१)
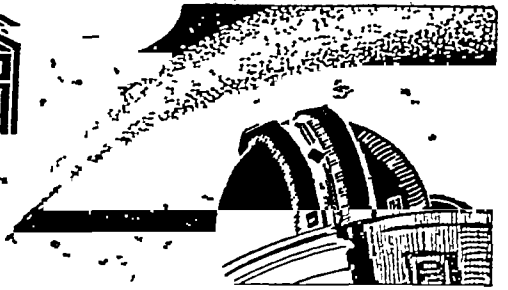
बुध, शुक्र और पृथ्वी के बाद सौर परिवार में चौथा स्थान मगल ग्रह का है। यह पृथ्वी से छोटा है, लेकिन अनुमान किया जाता है कि सारे सौर जगत् में संभवत: यही एक ऐसा ग्रह है जिस पर विकास की श्रेणी में उच्च स्थिति तक पहुँचे हुए प्राणियो के विद्यमान होने की संभावना है। इसका कारण यह माना जाता है कि छोटा होने के कारण मंगल पृथ्वी से कहीं पहले ठंढा हो गया होगा और वहाँ यहाँ से बहुत पहले ही जीवन का विकास हो चुका होगा। अभी ये बातें निरी कल्पना की नींव पर स्थापित है, परतु जो कुछ भी हो, वैज्ञानिकों की आँखें इस ग्रह की ओर लगी हुई है, और मंगल पर जीव हैं या नहीं यह प्रश्न आज दिन विज्ञान के सीमान्त पर सामने डटी हुई अनेक समस्याओ में से एक है। आइए, इस और आगे के लेख में इस अनोखे ग्रह की मनोरंजक कहानी आपको सुनाएँ।

अंगारे के समान चमकनेवाला लाल ग्रह मगल जनता के लिए अत्यत चित्ताकर्षक इसलिए है कि समय समय पर इस ग्रह पर बुद्धिमान् प्राणियों के रहने की बात पत्रों और पत्रिकाओं में छपा करती है। हर पद्रहवें वर्ष लोगों का ध्यान इस ग्रह की ओर विशेष रूप से चला जाता है, क्योंकि उस समय मगल हमारे कुछ अधिक निकट चला आता है और साधारण से बहुत अधिक चमकीला दिखलाई पड़ता है। उस समय दूरबीन में भी यह अन्य समयों की अपेक्षा अधिक बड़ा दिखलाई पड़ता है और उसी समय इसकी सतह के ब्योरों के स्पष्ट रूप से देखे जाने की आशा ज्योतिषी लोगों को हो सकती है।

कोरी आँख से यह ग्रह हमें चमकीले तारे की तरह, परतु लाल रग का, दिखलाई पड़ता है। दूरी के घटते-बढ़ते रहने के कारण इसकी चमक घटा-बढ़ा करती है, परतु लघुतम काति के समय भी यह ध्रुवतारा से ज्योदा चमकीला रहता है। महत्तम काति के समय तो यह ध्रुवतारा की अपेक्षा पचपन गुना अधिक चमकीला हो जाता है। उस समय यह शुक्र को छोड़ अन्य सब ग्रहों और तारों से अधिक चमकीला जान पड़ता है और सुदर लगता है।

पृथ्वी और मगल दोनों अपनी-अपनी कक्षाओं में चलते

मंगल और पृथ्वी के आकार की तुलना
(बाईं ओर) पृथ्वी, (दाहिनी ओर) मगल। स्पष्ट है कि मंगल पृथ्वी से बहुत छोटा है।

ग्रीक ईमारतो ग्रौर मूर्त्तियों पर ग्राज दिन हम जिस विशुद्ध धवल पुरातन सौन्दर्य का ग्रारोप करते हैं वह केवल एक सुखद योगायोग की ही बात है। वास्तव में यह सर्व शक्तिमान काल की करतूत है जिसने ग्रपने प्रभाव से तमाम ग्रीक मन्दिरों ग्रौर मूर्त्तियों के पृष्ठ पर से विविध रगों को उसी प्रकार सोखकर श्वेत बना दिया है जिस प्रकार कि वह यौवन के उतार के साथ मुख की लालिमा ग्रौर काले घन केशपाशों का भी रग उड़ा देता है। वे ग्रालोचकगण, जो ग्रीक ईमारतों ग्रौर मूर्त्तियों के कलात्मक मौन सौन्दर्य की प्रशसा करते नहीं थकते, इस बात को प्रायः भूल जाते हैं कि ये सब, बिना एक भी ग्रपवाद के, भड़कीले लाल, नीले, पीले, काले या सुनहले रगों से ऐसे रगे हुए थे कि जिससे सब मिलाकर उनका रूप, ग्राज हम उन्हें जैसा देखते हैं उससे, बिल्कुल ही निराला था।

फीडिग्रास की सुप्रसिद्ध 'एथिना पार्थीनास' की मूर्त्ति की एक रोमन नक़ल

जिससे हमें उसकी मूल दीर्घकाय मूर्त्ति की शैली का कुछ ग्रदाज हो सकता है। (नेशनल म्यूज़ियम)।

फुर्टवैंगलर जैसे विद्वानों ने ईजीना के देवालयों से प्राप्त मूर्त्तियों ग्रौर मूर्त्तिखडों को फिर से जोड़कर पहिले की तरह तैय्यार किया है ग्रौर उनमें वही रग दिखाए हैं, जो मूलरूप मे उनमें रहे होंगे। पार्थेनन से प्राप्त ग्रीक-मूर्त्तिकला के नमूने, जो सामान्य तौर पर "एल्गिन मार्बल्स" के नाम से ग्रभिहित किए जाते हैं, इतने ग्रधिक प्रसिद्ध हैं कि विस्तारपूर्वक उनका वर्णन करने की यहाँ ग्रावश्यकता नहीं प्रतीत होती। इन कलाकृतियों में थीसियस, "भाग्यदेवियाँ", हेबे, ग्राइरिस ग्रथवा सिलिनी (चद्रमा) के ग्रश्व की मूर्त्तियों से तो हमारे देश में पढ़ाई जानेवाली मामूली स्कूली पाठ्य-पुस्तकों के पाठक भी परिचित हैं। 'पेडिमेण्ट' या शिखर की दीर्घकाय मूर्त्तियों के ग्रति-

रिक वे अनगिनत मूर्तियाँ थीं, जो मन्दिर की समूची इमारत के चारों ओर फैली हुई 'फ्रीज' पर मानों परिक्रमा करते हुए एक जूलूस के रूप में अंकित थीं। यह 'फ्रीज' लम्बाई में ५२२ फ्रीट और ऊँचाई में ५ फ्रीट ३ इंच थी! इस अद्भुत फ्रीज पर उस युग के नागरिक जीवन का मानों पूरा खाका खींच दिया गया है—कहीं लम्बे चोगे पहने हुए वृद्ध, कहीं नवयुवतियों और प्रौढ़ाओं की कतारें, कहीं देवालयों में पूजा अर्चना के लिए कलश और विविध पात्र लिये हुए साधारण जन, तो कहीं अश्वारोही ओजस्वी नवयुवकों के समूह—सभी के दर्शन यहाँ होते हैं। फीडिआस द्वारा बनाई गई एथीना देवी की भव्य मूर्ति के बारे में आज अधिक जानकारी सुलभ नहीं है। भीमकाय आकार की इस मूर्ति की कुल लम्बाई ३६ फ्रीट के लगभग थी और वह सारी-की-सारी हाथीदाँत और सुवर्ण की बनी थी। इस मूर्ति की रचना और निर्माण कार्य के निरीक्षण का सारा कार्य तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ शिल्पी कलाकार, फीडिआस, के हाथ में सौंपा गया था और उसने जिस मूर्ति का निर्माण किया, वह उस युग के प्रमुख आश्चर्यों में मानी जाती थी।

फीडिआस की कृतियों के वास्तविक मूल्य के संबंध में आलोचकों में मतभेद है। पीजोन की तरह कुछ लोग यह मत रखते हैं कि पार्थेनन की प्रस्तर-मूर्त्तियाँ कई बातों में कला के क्षेत्र में मनुष्य की सफलता के सबसे ऊँचे दर्जे के उदाहरणों में हैं। इसके विपरीत अन्य आलोचक आधुनिक विचारधारा का अनुसरण करते हुए यह मानते हैं कि उनको व्यर्थ ही इतना अधिक तूल दिया गया है। माइयर-ग्रीफ़ नामक संसारप्रसिद्ध आलोचक वास्तव में समूची ग्रीक मूर्ति-कला को ही हेय करार देता है और केवल इतना ही मानता है कि ग्रीक लोग महज उभाड़कर आकृतियाँ बनाने की कला में ही औरों से बढ़े-चढ़े थे। शेल्डान चेनो के मतानुसार ग्रीक मूर्त्तिकला की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ पेरीक्लीज़ के युग के पहले की कृतियाँ ही थीं। इस आलोचक का कहना है कि फीडिआस की प्रतिभा की प्रशंसा में उसके खिलाफ़ पड़नेवाले तमाम उलटे और ग़लत कारण ही पेश किये गए हैं, अर्थात् यथार्थ के साथ उसकी कृतियों की अद्भुत् समानता, प्राकृतिक रूप और आकार आदि के संबंध में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातों में भी सही-सही प्रतिरूप बनाने की उसकी मनोवृत्ति और प्रभावित करने के लिए काम में लाई गई विविध प्रकार की उसकी युक्तियाँ आदि। भास्कर्य कला-संबंधी आवश्यक गुणों से तो मालूम होता है कि वह बिल्कुल ही अनभिज्ञ था।

प्राय: यह कहा जाता है कि जब सृजनात्मक शक्तियों का ह्रास हो जाता है, उस समय बहुधा सिद्धान्तवादिता और आलोचना की धूम मचने लगती है। मक्खियों की तरह आलोचकगण कला के शव पर मँडराने लगते हैं और उस स्थूल शरीर की प्रशंसा के गीत गाने लगते हैं जिसके प्राण-पखेरू बहुत पहले ही उड़ गए हैं। ग्रीक कला के सिद्धान्तों का जन्म पेरीक्लीज़ के ज़माने के कथित स्वर्ण युग के लगभग हुआ था। यह एक ऐसा जमाना था जिसमें कला-संबंधी ह्रास (यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से नहीं) होना आरंभ हो चुका था। कला के ये सिद्धान्त आमतौर से केवल पंडिताऊ थे। वे तत्कालीन कलाकृतियों के विश्लेषण के आधार पर ही रचे गए थे और कला के स्थायी आवश्यक गुणों की ओर से नितान्त विमुख थे। तत्कालीन ग्रीक-सौन्दर्यशास्त्र की सारी कुंजी अरिस्टॉटल (अरस्तू) के इस प्रसिद्ध सूत्र में निहित है—"कला अनुकरणमात्र है।" यहाँ तक कि सॉक्रेटीज (सुकरात) भी इस यथार्थवादी सिद्धान्त की जाल से मुक्त नहीं है। उसकी दलील इस प्रकार है—कलाकार जो कुछ देखता है उसी की नक़ल करता है, अनेक नमूनों की जानकारी होने पर वह सबकी ख़ूबियों को मिलाकर आदर्श के अति निकटतम आकृति की योजना कर सकता है, बेहतर है कि कुरूप की नक़ल करने के बनिस्बत जो कुछ सुन्दर है उसकी ही प्रतिलिपि उतारी जाय। अपने गुरु साक्रेटीज (सुकरात) का अनुसरण करते हुए प्लेटो (अफ़लातून) ने भी कला को, उद्देश्य और परिणाम, दोनों दृष्टियों से अनुकरणविशिष्ट ही माना है और एक कलाकार को आदर्श राष्ट्र में स्थान पाने के अयोग्य क़रार दिया है, ठीक उसी तरह जैसे कि कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में कलाकारों को उसी श्रेणी में रक्खा है जिसमें उसने कुटनियों, वेश्याओं और भालू नचानेवाले मदारियों को रक्खा है। अरिस्टॉटल के उल्लिखित सरल सूत्र, "कला अनुकरण-मात्र है", की तोते की तरह रटन से बाद में आनेवाली समस्त पाश्चात्य-कला को जितनी हानि पहुँची है वह अकथनीय है।

प्राचीन मिस्र देश की यात्रा करते समय 'सोलन' को वहाँ के एक मिस्री पुरोहित ने जो कुछ कहा था उसका उल्लेख हम पिछले एक लेख में कर ही चुके हैं। उसने कहा था—"हमारी दृष्टि में तो तुम ग्रीक अभी निरे दुधमुँहे

ओलिम्पिआ के देवालय में फीडिआस द्वारा निर्मित 'जीअस' या बृहस्पति की भीमकाय मूर्त्ति

जो पार्थनन में स्थापित एथिना देवी की प्रतिमा की तरह हाथीदाँत और सुवर्ण से मढ़ी हुई थी। आज इसका नामो-निशान भी बाक़ी नहीं है, केवल प्राचीन सिक्के और वर्णन के आधार पर इसका एक काल्पनिक नमूना बनाया गया है। उसी की यह प्रतिलिपि है। [प्रतिलिपिकार—श्री० पन्नालाल]

परगेमॉन के मंदिर की भव्य वेदी

इसकी 'फ्रीज़' में सुंदर भावभंगियोंयुक्त मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं। इसका निर्माण ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी में हुआ था।

(बर्लिन के म्यूज़ियम में सुरक्षित)

बच्चे हो।" उत्तरकालीन युग के ग्रीक इस कथन को सहज ही में खिल्ली उड़ाकर सन्तोष मान सकते थे। अपने विचार में तो उन्होंने कला को एक नवीन बुद्धिसगत पूर्णता की स्थिति तक पहुँचा दिया था। इधर के कुछ पाश्चात्य आलोचकों ने भी ग्रीकों का साथ देते हुए मिस्र के इस 'घोर अन्धेपन' की मज़ाक उड़ाई है।

पर आज मिस्री पुरोहित के उल्लिखित वक्तव्य में भी सत्य का अंश देखा जा रहा है। आज यह प्रतीत हो रहा है कि स्वय ग्रीक ही जीवन की उन समस्त शक्तियों से बिलकुल अनभिज्ञ थे जो न इन्द्रियों द्वारा जानी जा सकती हैं न मस्तिष्क द्वारा तौली ही जा सकती हैं। वे उन रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक इन्द्रियातीत तत्त्वों के प्रति बिल्कुल अंधे थे जो कला को वह रहस्यमय वस्तु बनाते हैं जो कि उसका सच्चा स्वरूप है, तथा जो बुद्धि की योजना एव वर्णन के दायरे में कदापि नहीं बाँधे जा सकते। वास्तव में ग्रीक लोग उस परे की विशद दुनिया के सम्बन्ध में बहुत कम जानते थे। सच पूछिए तो वे लोग उस क्षेत्र में, जिसमें कि उन्होंने अधिकार जमाया था, असमय ही परिपक्व हो जानेवाले बालकों के तुल्य थे। यथार्थ के दायरे में रहकर प्रत्यक्ष को अपनाने में उन्होंने सचमुच कमाल कर दिखाया था। वे ससार के सर्वप्रथम वैज्ञानिक कलाकार थे। बाद में आनेवाली पीढ़ियाँ उनके प्रति अत्यन्त ऋणी हैं। किन्तु आख़िरकार यह "ग्रीक करामात" कला के इतिहास में होनेवाली अनगिनत करामातों में से एक मानी जाने लगी है और सो भी कोई बहुत अधिक प्रशसनीय अथवा उत्कृष्ट नहीं।

यथार्थवादी विचारधारा के महान् मूर्त्तिकारों में से एक माइरान था, जो फीडिआस का समकालीन था। सौन्दर्य के आधुनिक मानदण्ड के अनुकर माइरान को उसके अधिक प्रख्यात समकालीन फीडिआस से ज़्यादा ऊँचा स्थान दिया जाता है, क्योंकि उसका रेखाङ्कन और गतिनिदर्शन फीडिआस से कहीं बढ़-चढ़ कर है। अपने पूर्वगामियों की तरह माइरान को भी शरीर की मांसपेशियों के सौन्दर्य के प्रदर्शन का बड़ा शौक़ था। उसके द्वारा बनाई हुई 'डिस्कोबोलस' या 'चक्रधारी' की प्रसिद्ध मूर्त्ति वास्तव में ही गतिशील मानवशरीर का श्रेष्ठतम रूपाकन है। आज दिन चक्रधारी की इस मूर्त्ति से हम उसकी एक रोमन नक़ल ही के रूप में परिचित हैं। इसकी काँसे की मूल मूर्त्ति अप्राप्य हैं।

माइरान की एक और मशहूर मूर्त्ति, जो मिली है, "पालास एथिनी और सेटर मार्मियस (किंपुरुष)" की मूर्ति है। इस मूर्त्ति में एथिना देवी मुड़कर, यह देखती हुई कि पीछे क्या हो रहा है, एक ओर को हट रही हैं। जमीन पर छः स्वरग्रवाली एक बाँसुरी पड़ी है और किंपुरुष उसे उठाने के लिए ख़ुशी के मारे वन्य प्राणी की तरह लपक रहा है।

ईस्वी पूर्व पाँचवी शताब्दी का तीसरा विख्यात मूर्त्तिकार पॉलिक्लीटस है। वह भी, माइरान की तरह मानवशरीर की रूपरेखा को बिल्कुल सही-सही उतारने और सुडौल मासपेशीयुक्त मनुष्यदेह के आदर्श को अभिव्यक्त करने का बड़ा शौक़ीन था। उसकी सबसे अधिक। विख्यात कृतियाँ "डोरीफोरस", "डाएडूमीनॉस", और

पार्थेनन के पूर्वीय पेडिमेण्ट से प्राप्त एक सुंदर पुरुष मूर्त्ति
यह थीसियस के नाम से प्रसिद्ध है। (ब्रिटिश म्यूज़ियम)

"अमेजॉन" की मूर्त्तियाँ हैं। किंवदती है कि इफीसस के देवालय के लिए एक बार एक शिल्प-प्रतियोगिता की घोषणा की गई। विषय था एक अमेजॉन (योद्धा नारी) की पूरे आकार की मूर्त्ति। इस प्रतियोगिता में तत्कालीन कई मशहूर मूर्त्तिकारों ने भाग लिया था, जिनमें फीडिआस, क्रेसिलास, फ्रेडमॉन और पॉलिक्लीटस भी थे। जब इन सबकी कलाकृतियों पर मत लिया गया तो बहुमत पॉलिक्लीटस के पक्ष में पाया गया। सयोग की बात है कि इन चारों मशहूर कलाकारों द्वारा बनाई गई उक्त अमेजॉन की चारों मूर्त्तियाँ खोज ली गई हैं और उन्हें देखकर जिज्ञासु व्यक्ति स्वय उनमें से प्रत्येक की उत्कृष्टता की जाँच कर सकता है। वास्तव में वे चारों मूर्त्तियाँ किसी भी दीवानखाने को सजाने के लिए सुदर सजीव कलाकृतियाँ हैं।

निरे बाह्य रूप-रग की सुघड़ता को जरूरत से ज्यादा तूल देने की यह प्रवृत्ति, जो प्राय आदर्शवादिता मान ली जाती थी, एव वास्तविकता की ओर का यह झुकाव ई० पू० चौथी शताब्दी के प्रसिद्ध मूर्त्तिकार, प्रेक्सीटीलीज की कृतियों में हमें स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। इस प्रख्यात शिल्पी की जीवनी के सबध में हमें करीब-करीब कुछ भी ज्ञात नहीं है, सिवा इसके कि वह सेफीसोडोटस नामक किसी व्यक्ति का पुत्र था और एथेन्स की तत्कालीन सबसे प्रसिद्ध सुदरतम नायिका फ्राइनी का प्रेमी था। कहते हैं कि 'क्नाइडियन वीनस' नामक उसकी प्रख्यात मूर्त्ति का चित्रादर्श फ्राइनी ही थी। यह स्त्री की सर्वप्रथम नग्न ग्रीक मूर्त्तियों में से एक थी। किंवदती है कि प्रेक्सीटीलीज ने वीनस की दो मूर्त्तियाँ बनाई थीं—एक तो परम्परागत कट्टर शैली में पूरे वस्त्र पहने हुए, और दूसरी महज शौक के खातिर बिल्कुल नग्न। कोस और क्नाइडस के लोगों में इन मूर्त्तियों को खरीदने के लिए होड़ लगी। आखिरकार क्नाइडसवासियों ने नग्न मूर्त्ति को खरीदने में सफलता पाई और वस्त्रयुक्त वीनस अधिक पुरातनपथी कोस के लोगों के हिस्से में आई। 'क्नाइडियन वीनस' की सर्वश्रेष्ठ नकल आज दिन रोम के वेटिकन म्यूजियम में है, जहाँ उसकी नग्न कमनीयता को मठवासी ईसाई सन्यासियों की लोलुप दृष्टि से बचाने के लिए टिन धातु के एक परिधान से अभी हाल तक ढाँककर रक्खा गया था। इस महान् कलाकार की अन्य प्रसिद्ध कलाकृतियाँ 'अपोलो सॉरोक्टोनस' (अथवा विसखपरे के साथ अपोलो देवता), 'शिशु डिओनाइसस को उठाये हुए मरक्यूरी', 'युवा किंपुरुष', तथा 'इरॉस' आदि की सुदर मूर्त्तियाँ हैं।

प्रेक्सीटेलीज का पुत्र भी एक खासा अच्छा मूर्त्तिकार था। उसने यह कला अपने पिता से ही सीखी थी। प्रेक्सीटेलीज का एक और शिष्य लिओकारेस था, जो बहुत बड़ा कलाकार था। "अपोलो बेलवीडियर" और "वर्साई की डायना" नामक मशहूर मूर्त्तियों का निर्माता लिओकारेस ही माना जाता है।

प्रेक्सीटेलीज के शिष्यों की कलाकृतियों के द्वारा ग्रीस में स्त्रियों की नग्न मूर्त्तियाँ बहुत अधिक लोकप्रिय होती गईं। इनमें से सबसे मशहूर 'आर्लोस की वीनस', 'मेलॉस की वीनस' और 'काइरिनी की वीनस' देवी की मूर्त्तियाँ हैं। मेलॉस की वीनस की मूर्त्ति, जो आजकल पेरिस के लूव्र नामक अजायबघर में सुरक्षित है, और हजारों प्रतिमूर्त्तियों के द्वारा "वीनस डि मिलो" के फ्रेंच नाम से सारी दुनियाँ में मशहूर है, १८२२ में खडित दशा में मेलौस के द्वीप से प्राप्त हुई थी। मूर्त्ति के साथ उसके आसन का एक अश भी मिला था, जिस पर उसके शिल्पी एलक्झेण्ड्रास का नाम अकित था। अब मूर्त्ति पर यह नाम नहीं पाया जाता है, चूँकि वीनस की बाहों की तरह आसन का वह अश भी उस समय खो गया जबकि लूव्र म्यूजियम के लिए वह साफ की जा रही थी। 'काइरीनियन वीनस' की जबर्दस्त आकर्षण और कामुक भाव से युक्त प्रसिद्ध मूर्त्ति भी खण्डित दशा ही में है। यही हाल उत्तरकालीन ग्रीक कला की एक और प्रसिद्ध उत्कृष्ट कृति सेमोथ्रेस की पखयुक्त विजयलक्ष्मी की टूटी मूर्त्ति का भी है।

उत्तरकाल के कलाकारों में स्कोपास और लाइसिपस के नाम असख्य छोटे-छोटे नक्षत्रों के बीच आलोक-पुज की तरह चमकते हैं। स्कोपास का नाम हेलीकार्नसस में ईरानी क्षत्रप मॉसोलस को उत्सर्ग किए गए सुप्रसिद्ध स्मारक के साथ घनिष्ट रूप से सबधित है। उधर लाइसीपस, जो कि एक पीढ़ी बाद पैदा हुआ था, सिकदर महान् का राजकीय मूर्त्तिकार था। हेलीकार्नेसस के समाधि-मन्दिर का सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्लाइनी ने बड़ा ही सुन्दर वर्णन दिया है, जिससे हमें कुछ अन्दाज हो सकता है कि अपने गौरव के मध्याह्नकाल में यह इमारत कैसी दीखती रही होगी —

"हेलीकार्नसस के समाधि-मन्दिर की रचना में भाग लेनेवाले स्कोपास के तीन प्रतिस्पर्धी और थे, जिनके नाम ब्राइएक्सिज, टिमोथिअस, और लियोकेरीस थे। ये तीनों स्कोपास के समकालीन थे। यह स्मारक केरिया के राजा

माइरान की महान् कलाकृति—'डिस्कोबोलस' या चक्रधारी

यह मूल रूप में काँसे की मूर्त्ति थी, किंतु अब इसकी सगमरमर में नक़ल ही प्राप्त है। (वेटिकन में सुरक्षित)।

(बाईं ओर) हेलीकार्नेसस के भव्य समाधि-मंदिर से प्राप्त सम्राट् मॉसोलस और उसकी पत्नी आर्टीमीसिआ की दीर्घ आकार की सुंदर मूर्त्तियाँ। (ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित)

(नीचे) पार्थेनन के पूर्वीय पेडिमेंट या शिखर से प्राप्त "तीन भाग्य-देवियों" की कथित मूर्त्ति। (ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित)

इरेक्थियम की एक स्तभवत् नारी-मूर्त्ति या 'केरिएटिड'
(ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित)

मेलॉस द्वीप से प्राप्त ग्रीक देवी वीनस की प्रसिद्ध मूर्त्ति
(लूव्र, पेरिस, में सुरक्षित)

लेओकून नामक सुप्रसिद्ध कलाकृति

यह उत्तरकालीन कलाकारों की कृति का नमूना है। (वेटिकन म्यूजियम, रोम, में सुरक्षित)

रहते हैं। इसलिए कभी-न-कभी ये दोनों सूर्य से एक ही सीध में और एक ही ओर आ जाते हैं। ऐसा लगभग प्रति दूसरे वर्ष होता है (वस्तुतः लगभग २ साल १ महीना १९ दिन पर ऐसा होता है)। उस समय पृथ्वी और मंगल के बीच की दूरी बहुत कम हो जाती है, यह तब मंगल और पृथ्वी की सूर्य से दूरियों के केवल अंतर के बराबर रह जाती है। यदि पृथ्वी और मंगल दोनों ठीक गोल रास्ते पर चलते रहते तो बार-बार पृथ्वी और मंगल की निकटतम दूरी एक-सी ही होती। परंतु ये दोनों ठीक गोल रास्ते पर नहीं चलते। पृथ्वी दीर्घवृत्त में चलती है और मंगल भी दीर्घवृत्त में चलता है। जब कभी पृथ्वी सूर्य से प्रायः महत्तम दूरी पर रहती है और मंगल सूर्य से प्रायः लघुतम दूरी पर, और सूर्य, पृथ्वी तथा मंगल एक ही सीध में रहते हैं, उस समय मंगल हमारे बहुत निकट हो जाता है। ऐसा अवसर लगभग पंद्रह वर्ष पर आता है। इसीलिए उन समयों पर मंगल की धूम रहती है। परंतु उन दिनों भी मंगल हमसे लगभग साढ़े तीन करोड़ मील पर रहता है।

दूरदर्शक की सहायता से हम मंगल के बारे में बहुत-सी बातें निश्चित रूप से जानते हैं। यह बात पक्की है कि वहाँ ऊँचे-ऊँचे पहाड़ नहीं हैं। वहाँ समुद्र भी नहीं हैं। वायुमंडल वहाँ अवश्य है, परंतु हमारे वायुमंडल के समान घना नहीं है। बादल वहाँ कभी-ही-कभी देखे गये हैं। वहाँ दिन-रात उसी तरह होते हैं जैसे हमारी पृथ्वी पर, अंतर केवल इतना ही है कि वहाँ एक दिन रात में चौबीस घंटे लगने के बदले लगभग २४ घंटे ३७ मिनट २२ सेकंड समय लगता है। वहाँ भी गरमी और सरदी की ऋतुएँ होती होंगी, परंतु वे हमारी ऋतुओं के हिसाब से दुगुनी लंबी होती होंगी, क्योंकि मंगल सूर्य का एक चक्कर लगभग दो वर्षों में (वस्तुतः लगभग ६८७ दिनों में) लगाता है। बरसात वहाँ न होती होगी। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों पर बर्फ़ अवश्य जमा रहता है और गरमी में बर्फ़ पिघलता भी है, परंतु वहाँ इतना पानी नहीं है कि खूब भाप उठे, बादल बनें और पानी बरसे।

मंगल पृथ्वी से छोटा है। इसका व्यास (इसके ध्रुवों के ठीक बीच में स्थित रेखा पर) कुल २१०८ मील है। तौल में मंगल पृथ्वी के दसवें भाग से कुछ ही अधिक होगा। इसके पृष्ठ पर आकर्षण-

जैसा कि ऊपर के चित्र में बाईं ओर दिये गये मानचित्र से स्पष्ट है, मंगल की कक्षा सूर्य से चारों ओर समान दूरी पर स्थित नहीं है। यों तो पृथ्वी और मंगल दोनों सूर्य के आस पास ठीक गोल रास्ते पर नहीं चलते—दोनों दीर्घवृत्त में चलते हैं, परंतु मंगल की कक्षा पृथ्वी की कक्षा की अपेक्षा सूर्य से अधिक असमान दूरी पर विस्तृत है। इसका नतीजा यह होता है कि जब कभी पृथ्वी सूर्य से प्रायः महत्तम दूरी पर रहती है और मंगल सूर्य से प्रायः लघुतम दूरी पर, और सूर्य, पृथ्वी तथा मंगल एक ही सीध में रहते हैं, तब मंगल हमारे अत्यंत निकट आ जाता है। १९२४ के सितंबर में ऐसा ही अवसर आया था। किंतु उस समय भी मंगल हमसे ३॥ करोड़ मील की दूरी पर था। (दाहिनी ओर) १९२४ में मंगल के क्रमशः सबसे बड़े और सबसे छोटे आकारों की तुलना। जब सूर्य और मंगल दोनों पृथ्वी से एक ही दिशा में रहते हैं तब दूरी के कारण मंगल हमें बहुत छोटा दिखाई पड़ता है। जब सूर्य और मंगल पृथ्वी से विपरीत दिशा में रहते हैं, तब नज़दीक होने के कारण मंगल बहुत बड़ा दिखाई देता है।

मॉसोलस का समाधि-मन्दिर था, जिसे उसकी पत्नी आर्टो-मीसिआ ने बनवाया था। यह दुनिया के सात महान् आश्चर्यों में माना जाता था और एक ऊँचे आयताकार चबूतरे पर निर्मित किया गया था। उस पर छत्तीस खम्भे थे। उसका पूर्वीय पृष्ठ स्कोपास द्वारा, उत्तरी ब्राएक्सिस द्वारा, दक्षिणी टिमोथियस द्वारा और पश्चिमी लिओ-केरिस द्वारा अलकृत किया गया था। सम्राज्ञी आर्टो-मीसिआ इस समाधि-मंदर के समाप्त होने के पहिले ही चल बसी। फिर भी इन कलाकारों ने अपने यश के ख़ातिर काम को जारी रक्खा और उसे समाप्त किया। इस इमारत के सिरे पर पिरामिड के आकार का चौबीस सीढ़ियोंवाला एक स्तूप बना था, जिसके शिखर पर धरती से १४० फीट की ऊँचाई पर पाइथिस द्वारा सगमरमर में बनाया गया एक चतुरश्व-रथ सुशोभित था।" १८५७ में सर चार्ल्स न्यूटन ने इस समाधि-मदिर के ध्वसावशेषों की खोज की थी और उसके सिलसिले में उन्होंने इस स्मारक की कलापूर्ण फ्रीज़, शिखरस्थ रथ और मॉसोलस एव आर्टोमीसिआ की मूर्त्तियों के खण्ड धरती से खोद निकाले थे। प्लाइनी के उपरोक्त कथन के बावजूद विश्वास किया जाता है कि मॉसोलस और उसकी पत्नी की भीमकाय मूर्त्तियाँ, जो उल्लिखित चतुरश्व-रथ के मूर्त्ति-समूह का ही भाग थीं, स्कोपास की कृति थीं। मॉसोलस का सिर ख़ास तौर से आकर्षण की वस्तु है— उसमें बाल पीछे की ओर कघी किये हुए दिखाये गये हैं, जिससे उसमें एक ख़ास व्यक्तित्व झलकता है। किंतु इन मूर्त्तियों के परिधान की सुव्यवस्थित चुन्नटों द्वारा फीडिआस की वस्त्रयुक्त मूर्त्तियों की तरह प्रच्छन्न शरीर की आकृति की अभिव्यक्ति नहीं होती। स्कोपास साधारणतया विषाद की अभिव्यक्ति करनेवाले मूर्त्तिकार के रूप में प्रसिद्ध है। स्कोपास द्वारा निर्मित निओबी और उसके शिशु (जो क्रुद्ध अपोलो द्वारा मार डाले गये थे) की मूर्त्ति मानव व्यथा की अभिव्यक्ति का एक उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है, हालाँकि आधुनिक आलोचकों की दृष्टि में वह कुछ नाटकीय-सा हो गया है। नाटकीय भावप्रदर्शन और अतिरजित करुणा व क्रियाशीलता को दिखाने की यह प्रवृत्ति रोडीयन कलाकारों की कृतियों में चरम सीमा पर पहुँच गई। "लेओकून" या "फारनेसी वृषभ" के मूर्त्ति-समुदाय, प्राचीन लोगों और विशेषकर माइकेल एन्जेलो के शिष्यों द्वारा अति प्रशसित होने पर भी, आज दिन आमतौर पर बहुत अधिक आडबरयुक्त और एक ढलते जा रहे वृक्ष के अत्यधिक परिपक्व फलों जैसे माने जाते हैं।

अपोलो बेलवीडियर की सुप्रसिद्ध मूर्त्ति की एक रोमन नक़ल (वेटिकन म्यूज़ियम)

इसके बाद के ग्रीक मूर्त्तिकारों में यदि किसी का नाम उल्लेख करने योग्य है तो वह लाइसिपस है, जो एक उत्कृष्ट कलाकार था। यह सिकदर महान् का राजकीय मूर्त्ति-निर्माता था। पाठकों ने इस बात पर ग़ौर किया होगा कि इस युग में आते-आते ग्रीक कला में नर-नारियों की साधारण मूर्त्तियाँ (portrait-statues) बनाने की ओर ख़ास तौर से झुकाव होने लगा था। यह इस बात का स्पष्ट सकेत है कि कलाकारों को जिस स्रोत से प्रेरणा मिला करती थी उसका उद्गम अब क्रमशः सूख चला था और वे लोग अब जो कुछ बनाते थे वह अपने मनोराज्य में निहित सौंदर्य की भावना को कला के रूप में अभिव्यक्त करने की अतःप्रेरणा से विवश होकर नहीं, वरन्

महज अपनी रोटी कमाने के लिए ही बनाते थे। ग्रीस के प्राचीन देवता अब इन्हें नहीं रुचते थे। अब तो ये देवताओं या जनता का आह्वान करने के बदले सबसे अधिक मूल्य चुकानेवाले धनी आश्रयदाताओं की ओर ही निहारते थे। अब देवताओं का स्थान इन आश्रयदाताओं ने ही हड़प लिया और अपने आश्रित कलाकारों के प्रति यह माँग पेश की कि वे अपनी कृतियों में इन्हें देवताओं की तरह ही प्रस्तुत कर अमर कर दें। कला द्वारा गौरवान्वित होकर अमरत्व प्राप्त करने की धनाढ्यों और राजाओं की यह प्रवृत्ति लाइसिपस के प्रति सिकन्दर महान् की वृत्ति में स्पष्ट रूप से झलकती है। सिकन्दर ने यह फरमान निकाला था कि सिवा लाइसिपस के और कोई भी उसकी मूर्ति न बनावे। सिकन्दर के शीर्ष भाग की कई मूर्तियाँ अभी भी मौजूद हैं, जिनसे हमें लाइसिपस की शैली का कुछ परिचय मिलता है। इन मूर्तियों में हम इस प्रख्यात विजेता को एक सुंदर तरुण से क्रमश एक हठव्रती निरकुंश शासक के रूप में प्रौढ़ता की ओर बढ़ते तथा अंत में मृत्यु द्वारा ग्रसित होते हुए देखते हैं। बचपन से मृत्यु तक की उसकी सभी मूर्त्तियों में हम एक सा चेहरा अंकित पाते हैं—सभी में ललाट पर उसकी दो घुँघराली अलकें बराबर-बराबर दोनों ओर लटकती हुई दिखाई पड़ती हैं। इन मूर्त्तियों के अतिरिक्त लाइसिपस की अन्य प्रसिद्ध कृतियाँ "हरक्यूलीज़", "पदत्राण बाँधता हुआ जेसन", 'लुडोविसी मार्स' तथा 'अपोक्सीओमीनस' या शरीर से तेल और धूल खुरचते हुए युवा मल्ल की मूर्त्तियाँ हैं।
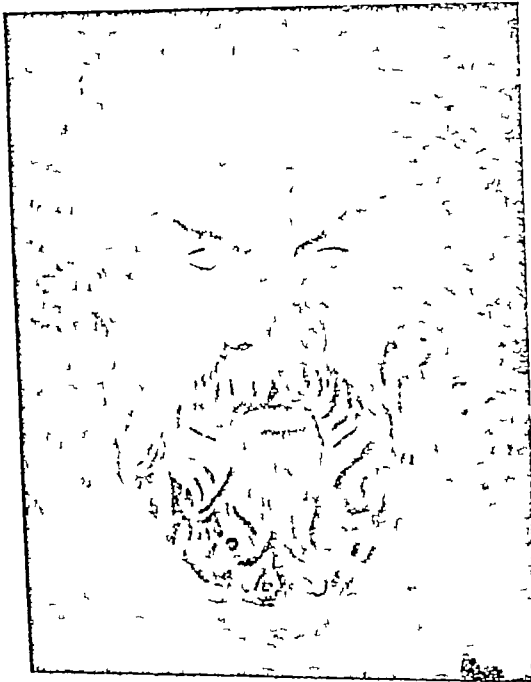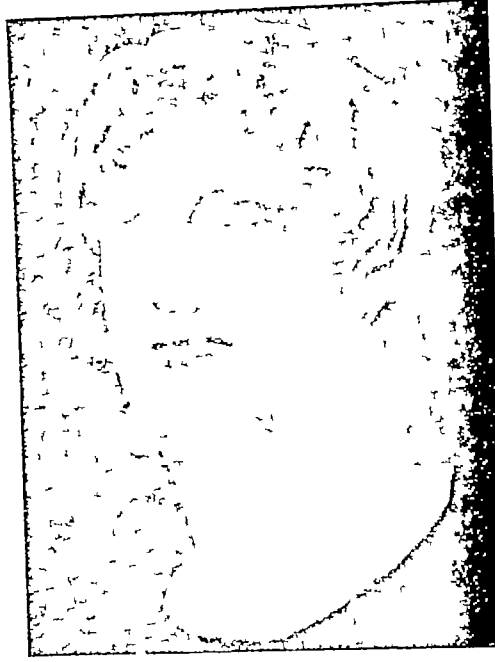
उत्तरकालीन युग की कुछ मूर्तियाँ—(ऊपर) सिकंदर महान्। (नीचे) बाईं ओर, सुकरात; दाहिनी ओर, कवि होमर।

जौनसर-बावर (ज़ि० देहरादून) की खस जाति

हिमालय प्रदेश में नस्ल-सम्बन्धी तीन मुख्य समूह पाये जाते हैं, जिनके विभिन्न अनुपातों में मिश्रित होने से इस प्रदेश में पाये जानेवाले प्रकार और समूह बने हैं। ये समूह इस प्रदेश की नस्ल-सम्बन्धी बनावट की मानों तीन कड़ियाँ हैं। सबसे ऊँचे धरातल पर मंगोल नस्ल के लोग रहते हैं, जिनके खानाबदोशी की हालत में घूमते फिरते दक्षिण, दक्षिण-पूर्वी और दक्षिण पश्चिमी दिशा में पहुँच जाने से उन स्थानों में बाहर से आकर बसे हुए आर्य लोगों के रंग में कुछ पीलापन आ गया है। पंजाब में भारतीय-आर्य जाति का फैलाव एक के बाद दूसरे आनेवाले समूहों के द्वारा हुआ था। वे लोग पहले-पहल पंजाब के हिमालय की तलहटी-वाले प्रदेशों में बसे। जिस समय भारतीय आर्य लोगों ने बाहर से आकर पंजाब में पहले पहल बसना शुरू किया था उन दिनों पंजाब घने जंगलों से ढँका रहा होगा, जिनमें बीच-बीच में बड़े-बड़े दलदल रहे होंगे। मैदान तक पहुँचने पर बाहर से आकर बसनेवाले दो दिशाओं में मुड़े होंगे— या तो मैदान के उत्तर की ओर होते हुए पूर्व में, या बलूचिस्तान की सरहद के किनारे होते हुए दक्षिण में। सम्भवतः उन्होंने ये दोनों मार्ग पकड़े। चूँकि खेती के ज्ञान से ये अनभिज्ञ न थे, उनमें से कुछ लोगों ने स्वभावतः पहाड़ की तलहटियों में रहना पसन्द किया होगा, जिसके कि अभ्यस्त वे तुर्किस्तान में रहते हुए हो चुके थे।

खस जाति का एक वृद्ध पुरुष (फ़ो०—लेखक द्वारा)

पहाड़ियों और दुर्गम घाटियों में भारतीय आर्य टोलियों के प्रवेश का कारण यह भी हो सकता है कि मैदान में पहले से बसे हुए लोगों का बाद में आनेवाले झुण्डों के साथ संघर्ष हुआ, जिसके फलस्वरूप उन्हें अपनी मूल बस्तियाँ छोड़कर सुदूर पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी होगी और आक्रमणकारी समूहों द्वारा वे अपमानजनक विशेषणों से विभूषित किये गये होंगे। यहाँ के ऑस्ट्रिक (Austric) या प्राक् द्रविड़ (Pre-Dravidian) आदिम निवासियों के प्रतिनिधि 'डोम' हैं। डोम नाम के अंतर्गत बहुत-से कारीगर पेशे के लोग भी आते हैं, जिनमें से अधिकांश आक्रमणकारी आर्यों और आदिम निवासियों के विवाह से उत्पन्न मिश्रित नस्ल-वाले हैं। जो भारतीय आर्य प्रवासी अपनी मूल बस्तियों में अब भी रहते हैं, वे अपनी नस्ल-सम्बन्धी शुद्धता भले ही न क़ायम रख सके हों, पर उनमें से जो लोग अपने घरों को

स्वाइन में खसों का एक खासा अच्छा मकान
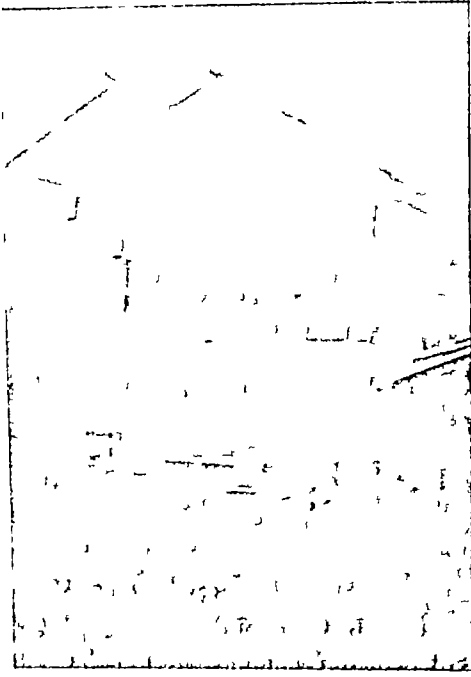
छोड़कर घूमते फिरते जंगलों और पहाड़ों में सुरक्षित स्थानों में जा बसे हैं वे अपनी नस्ल-सम्बन्धी शुद्धता बनाये रखने में समर्थ हुए हैं और हीन नस्लवालों के बीच बसे हुए होने के कारण उन पर अपना आधिपत्य जमाये हुए हैं। फलस्वरूप, हिमालय के पठारप्रान्त आज भी उस बचे-खुचे द्वीप के समान हैं जहाँ वे सामाजिक प्रथायें, जो एक समय सम्भवत विस्तृत भूभाग पर फैली हुई थीं, अब भी सुरक्षित हैं।

खस या खसिया लोग, जो हिमालय के इस पार के प्रदेश में बसनेवाले ऊँची जाति के लोग हैं, या तो राजपूत हैं या ब्राह्मण हैं, यद्यपि सजातीय विवाह के नियम इन लोगों के अन्तर्जातीय विवाह करने में कोई बाधा नहीं डालते। कारीगर लोग 'डोम' जाति के होते हैं, जिन्हें या तो खस लोग अपने साथ लाये थे या जिन्हें उन लोगों ने जीतकर गुलाम बना लिया था। खस लोग बाहर से आनेवालों से स्वच्छन्दतापूर्वक मिश्रित होते रहे हैं, किन्तु कारीगर पेशेवालों के साथ विवाह का कड़ा निषेध करके उन्होंने डोम रक्त का अपने साथ सम्पर्क नहीं होने दिया है। सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से डोम लोग निश्चय ही हीन होते हैं और खस लोग इसी दृष्टि से उन्हें देखते हैं।

खस लोग साधारणत सुन्दर, गोरे रंग के और लम्बे क़द के होते हैं। उनका सर लम्बा होता है और ललाट ऊँचा या चौड़ा होता है। नाक सुन्दर होती है और आँखें भूरी होती हैं। उनके सिर पर थोड़े-से नीले घुँघराले बाल होते हैं और शरीर के अन्य अंग सुगठित और सुडौल होते हैं। स्त्रियाँ भी अपेक्षाकृत लम्बे, छरहरे बदन की, अति सुन्दर और आकर्षक होती हैं। वे सदा प्रसन्न रहती हैं। खस ब्राह्मण और खस राजपूतों के शारीरिक विन्यास में बहुत कम अन्तर है। उनके बीच विवाह-सम्बन्ध अवश्य ही होते रहे होंगे, जैसे कि वे अब भी होते हैं।

खस और काश्मीरियों के बीच शारीरिक समानता होने के बहुत-से प्रमाण हैं और खसों के पारिवारिक नियम तथा पंजाब के प्रचलित नियमों में भी बड़ी अद्भुत समानता पाई जाती है, विशेषकर कांगड़ा की घाटियों के प्रचलित नियमों से। कुलूतों (कुलू के निवासी), तगनों और काश्मीरियों के साथ-साथ 'बृहत् संहिता' में खसों का भी उल्लेख आया है, और विष्णुपुराण, हरिवंशपुराण तथा महाभारत में भी खसों और शकों द्वारा मध्यदेश की विजय का वर्णन है। इससे खसों की प्राचीनता सिद्ध होती है। सम्भवत प्रागैतिहासिक काल में उत्तरीय भारत के अनेक भागों में खसों का निवासस्थान था, और इस कथन में भी कुछ तथ्य है
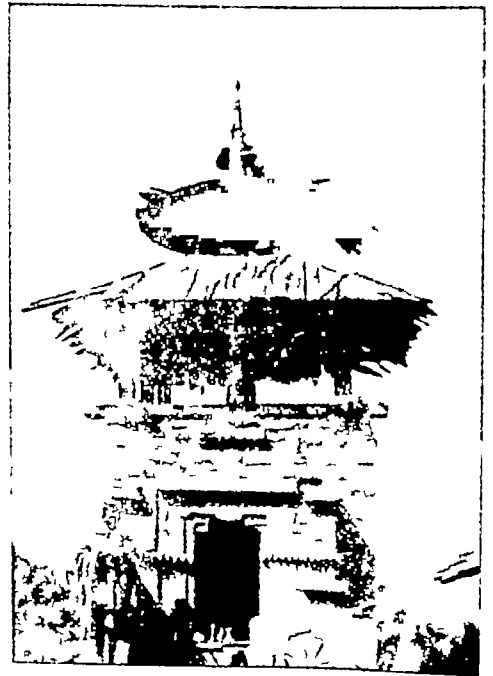
खसों का एक मंदिर

कि काश्मीर से लेकर नैपाल तक बहुत बडे भूमिखण्ड पर इन लोगों का अधिकार था। महाभारत के द्रोण पर्व में उनका विभिन्न प्रदेशों से आना लिखा है। इससे ऊपर की बात सिद्ध होती है। मनु ने भी अपनी 'स्मृति' मे शकों, कम्बोजो तथा भारत के सीमान्त देश की अनेक प्रकार की बर्बर जातियों के साथ यवनों का अनेक बार वर्णन किया है। एक स्थल पर (१०।४३-४४) उन्होंने लिखा है—"क्षत्रियों की निम्नलिखित जातियाँ ब्राह्मणों के दर्शन न करने और धार्मिक सस्कारों से वचित रहने के कारण चारों वर्णों में निकृष्टतम श्रेणी को पहुँच गई हैं—पौण्ड्रक, औद्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पल्हव, चीनी, किरात, दरद और खस।" इन सबको दस्यु कहा गया है, अर्थात् ये बर्बर जातियों में से थे, जिनकी प्राचीनतम चतुर्वर्णों से उत्पत्ति थी, किंतु जो अपने धार्मिक कृत्यों को छोड़कर एक दूसरे से घुल-मिल गये थे।

लखामंडल का एक खस ब्राह्मण

खस जाति के जिन लोगों की चर्चा मैंने इन पृष्ठों में की है वे देहरादून जिले के जौनसर-बावर प्रदेश में रहते हैं। देहरादून जिला सयुक्तप्रान्त की मेरठ कमिश्नरी का सबसे उत्तरी भाग है। भौगोलिक दृष्टि से यह ज़िला दो क्षेत्रों में बँटा हुआ है—एक ख़ास 'दून', जो कि शिवालिक पहाड़ियों और हिमालय की बाहरी श्रेणियों से घिरी हुई एक घाटी है, दूसरा, जौनसर-बावर का पहाड़ी परगना, जो कि इस घाटी का पर्वतीय भाग है। यह क्षेत्र एक लगभग अण्डाकार पहाड़ी इलाक़ा है, जिसका मुख्य भाग उत्तर और दक्षिण में पड़ता है। इन दोनों क्षेत्रों अर्थात् दून ख़ास और जौनसर-बावर की सीमायें पर्याप्त रूप से स्पष्ट और सुनिश्चित हैं। दून की घाटी हिमालय पर्वत-माला, शिवालिक पहाड़ियों और गगा-जमुना नदियों से घिरी हुई है। उत्तर की ओर से टोंस नदी जौनसर-बावर का चक्कर काटती हुई दक्षिण की ओर बहती है और कलसी के पास जमुना मे जा मिलती है। जौनसर-बावर के उत्तर और पूर्व में टेहरी, जुब्बल और सिरमूर के देशी राज्य हैं और दक्षिण में देहरादून की घाटी पड़ती है। शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से जौनसर-बावर देहरादून जिले के चकराता परगने के साथ मिला दिया गया है। यहाँ की सारी जमीन ऊबड़-खाबड़ और ढालू पहाड़ों से भरी हुई है, समतल जमीन यहाँ बहुत कम पाई जाती है। जगह-जगह पहाड़ों की अनेक चोटियाँ हैं, जिनकी ऊँचाई ५,००० से १२००० फ़ीट तक है। इनमे से कुछ चोटियों से सिरे निकलकर चलते हुए एकाएक बड़े-बड़े खड्डो के पास ख़त्म होते हैं। पहाड़ों के बीच मे बड़े-बडे खन्दक हैं, जिनमें से कुछ खुले हैं, कुछ जगलो से आच्छादित हैं। घाटियों मे सुन्दर घास लहलहाती है, जिसके द्वारा भैंसो के झुण्ड-के-झुण्ड पलते और बढ़ते और घी के व्यवसाय के लिए दूध देते हैं।

खस गाँव का एक मुखिया

जौनसर-बावर में बहुत बड़े-बड़े जगल हैं। यहाँ लम्बे-लम्बे वृक्षों और घनी झाड़ियों से छाई हुई पहाड़ियों की भरमार है। इन पहाड़ों पर बहुत थोड़े गाँव बसे हुए हैं, क्योंकि पहाड़ियाँ इतनी ढालू हैं कि उन पर खेती नही होती और इसलिए खेती के लिए बहुत कम भूमि मिलती है। जौनसर-बावर में बहुत-से नदी-नाले हैं, परन्तु बहुत कम में साल भर तक पानी बहा करता है। गर्मी के दिनों में ये सूख जाते हैं। पानी या तो गहरे कुओं में मिलता है या उन गड्ढों और खन्दकों में जो धूप से बचे रहते हैं। परन्तु वर्षा ऋतु में ये नदी-नाले भयकर रूप धारण कर लेते और तीव्र वेग से बह चलते हैं।

जौनसर-बावर ऊँचे भूमिभाग पर बसा हुआ एक शीत-प्रधान प्रदेश है। कभी-कभी २०-२० डिगरी तक की सर्दी का पाला पड़ता है। जाड़े की ऋतु में पहाड़ों पर खेती हो नहीं सकती, इसलिए खस लोग यह समय भोजों और उत्सवों में काटते हैं। इन्हीं दिनों वे बकरों को मारते हैं

और अपने पड़ोसियों को दावत देते हैं। प्रायः एक मास तक इसी प्रकार भोज चला करते हैं। इस समय मांस और मदिरा ही उनके जीवन का ध्येय हो जाता है।

खस लोग अच्छे घर बनाना बहुत पसन्द करते हैं। ये लकड़ी के बने हुए होते हैं और सुंदर आवेष्ठन में बनाए जाते हैं। सामने सीढ़ी-उतार खेत होते हैं, और पीछे पहाड़, जिससे उनका सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है। उनका प्रदेश शीत-प्रधान है, इसलिए सूर्य से उन्हें बहुत ही प्रेम होता है। वे अपने घर इस प्रकार बनाते हैं कि उनमें अधिक से अधिक समय तक धूप आ सकती है। धूप के अतिरिक्त पहाड़ों में जल भी दुष्प्राप्य होता है और इसीलिए उनके गाँव पहाड़ी झरनों और नालों के किनारे बसे होते हैं, जिससे कि ऊँचे तल से गाँव तक पानी लाया जा सके। कुछ गाँव आपस में मिल करके गाँववालों को पानी पहुँचाने का प्रबन्ध करते हैं। गाँवों में पानी बाँटने के लिए पहले से योजना बना ली जाती है और उसी के अनुसार काम किया जाता है। प्रत्येक गाँव का यह कर्त्तव्य होता है कि अपनी सीमा के भीतर वह पानी की नहर को अच्छी दशा में रखे, पानी का अपव्यय न होने दे और झरनों, नहरों तथा जलाशयों (जिनके ऊपर सभी गाँव पानी के लिए निर्भर होते हैं) की मरम्मत, रक्षा आदि का प्रबन्ध करने में दूसरे गाँवों से सहयोग करे।

खसों के मकान में लकड़ी पर की गई कलात्मक खुदाई का एक नमूना

खेती के लिए जो छोटे-छोटे सीढ़ी-उतार खेत मिलते हैं, उनकी गहरी जुताई की जाती है और उपज के लिए भली प्रकार खाद डालना और सींचना आवश्यक होता है। सिंचाई के लिए नदियों या नालों से, चट्टानों में चतुराई से खोदी हुई 'कुलों' या नालियों द्वारा, खेतों तक पानी लाया जाता है।

खस अपने घरों को लकड़ी की दीवालों और धन्नियों पर चित्र खोदकर सजाते हैं। ये चित्र बहुत ही सुन्दर होते हैं और असाधारण निपुणता का परिचय देते हैं। धन्नियों के सिरों में, जो छत के बाहर निकले रहते हैं, वे कलात्मक ढंग से मनुष्य तथा बन्दर, बाघ आदि पशुओं के मुँह काढ़ते हैं। घरों का अग्रभाग भूरे या हलके लाल रंग से रँगा रहता है और भीति-चित्र भी उचित रंग से रँगे रहते हैं। इस प्रकार जौनसर-बावर के घर सुदृढ़ होने के साथ-साथ कलात्मक भी होते हैं।

खस लोगों के वस्त्र उन्हीं के गाँवों के बने होते हैं। जाड़े के दिनों में वे घुटने तक लम्बा एक 'चोली' नामक ऊनी अचकन और पैरों को ढँकने के लिए 'सुन्तन' या पाजामा पहनते हैं। गर्मी के मौसिम में पाजामे के बदले वे कमर के चारों ओर कपड़े का टुकड़ा लपेट लेते हैं और उसके ऊपर से 'चोली' पहन लेते हैं। बस उनकी पोशाक पूरी हो जाती है। अपनी इसी वेष-भूषा के कारण जौनसर-बावर के खस लोग वहाँ 'नंगे आर्य' के नाम से मशहूर हैं, क्योंकि गर्मी में जाँघ तक उनके पैर का हिस्सा एकदम खुला रहता है। सिर पर ये लोग एक तिरछी टोपी लगाते हैं, जिसके सिरे मुड़े हुए होते हैं। उनके जूते नीचे चमड़ा और ऊपर ऊन लगाकर बने हुए होते हैं। हाल में चकराता से सम्पर्क में आने पर उनके वेष-विन्यास में महत्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए हैं। उनके पोशाक की तर्ज और क़िस्म दोनों ही बदली हैं। अब खस पुरुष कोट और सदरी वग़ैरह भी चकराता के कबाड़ियों से ख़रीदकर पहनने लगे हैं। स्त्रियों ने अपनी पोशाक में ज्यादा तबदीली नहीं की है, किन्तु जौनसर की कुछ सुन्दरियाँ मेले या क़स्बे से ख़रीदकर जम्पर और रेशमी लहँगे भी पहनने लगी हैं। औरतें एक तरह की चोली पहनती हैं, जो 'घुँडिया' कहलाती है। यह मामूली चोली से बड़ी होती है और उसके निचले हिस्से में चुन्नट डालकर सजावट की हुई होती है। घुँडिया का ऊपरी हिस्सा आस्तीन या बिना आस्तीन के जम्पर की तरह होता है। वहाँ की स्त्रियों को वस्त्रों और आभूषणों का इतना अधिक मोह होता है कि अगर उनके पति उनके लिए क़ीमती कपड़ों और गहनों का इन्तजाम न कर सके तो वे अक्सर झगड़ा कर बैठती हैं।

खस प्रदेश की इकाई गाँव है। हर गाँव का एक मुखिया या 'सयाना' होता है, जिसकी नियुक्ति चुनाव के द्वारा नहीं होती। मूल रूप में वह अपने ऊपर काम करनेवाले सदर सयाना (प्रान्तीय मुखिया) द्वारा नामज़द किया जाता था, किन्तु आजकल मुखिया का पद

पुश्तैनी बन गया है। गाँव का मुखिया सदर सयाने के मातहत होता है। जौनसर-बावर की भूमि-प्रथा में अब भी सामन्तशाही के चिह्न देख पड़ते हैं।

सदर सयाना, जो पहले थोकदार कहलाता था, सब का अधिपति होता है और अपने 'खात' या पट्टी के प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी होता है। स्थानीय अधिकारियों के पास वह सभी बातों में अपने 'खात' का प्रतिनिधित्व करता है। थोकदार के प्रति अधीन गाँववालों के कुछ निर्धारित कर्त्तव्य होते हैं। प्रवासी समूह के नेता के रूप में गाँववाले उसके महत्व को स्वीकार करते हैं और वह अपने दल के लोगों से अनेक प्रकार की सेवाएँ और उपहार पाता है। विशेष अवसरों और उत्सवों पर भी उसे भेंट दी जाती है। प्रत्येक परिवार को वर्ष में १२ दिन थोकदार के लिए मुफ्त काम करना पड़ता है। बच्चे का जन्म होने पर, लड़की के नामकरण के समय, और नया मकान बनाये जाने पर परिवारवाले उसे भेंट चढ़ाते हैं। जब किसी परिवार में भेंड़ मारी जाती है तो उसकी एक टाँग थोकदार को भेज दी जाती है। थोकदार को दी जानेवाली भेंटों आदि के बदले में वह अपने खात के गाँववालों के हितों की रक्षा करता है, आक्रमणकारियों से उनकी रक्षा का प्रबन्ध करता है, पच बनकर उनके झगड़ों का निपटारा करता है और अपनी प्रजाभूत परिवारों के अधिकारों और सुविधाओं की रक्षा का प्रबन्ध करता है।

विवाह के समय की पोशाक में एक खस युवती

इस शीतप्रधान प्रदेश में खस लोगों का जीवन सरल नहीं होता। खेती के लिए मिलनेवाले छोटे-छोटे जमीन के सीढ़ी-उतार टुकड़ों पर बड़ी सावधानी से काम करना पड़ता है। खेतों की पैदावार हमेशा मन के मुताबिक़ नहीं होती और न वह परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही पर्याप्त होती है। पहाड़ियों और पठारों पर भेंड़ और दूसरे जानवरों को चराने में लोगों का दिन का अधिक भाग चला जाता है। चरागाहों से सीढ़ी-उतार खेतों को गोबर और खाद पहुँचाने में ख़ासी मेहनत पड़ती है। ऊन कतरने, सूत कातने और कपड़ा बुनने का सब काम लोगों को अपने ही हाथों करना पड़ता है। पैदावार को बेचने और अपने माल का दूसरे आदमी के माल से विनिमय करने में पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। इसी तरह क्रिया-कर्म, उत्सवों और त्योहारों में भी सम्मिलित प्रयत्न और सामूहिक कोष में दिए गए स्वेच्छापूर्वक चन्दे से ही काम चल सकता है। इस प्रकार जौनसर-बावर का जीवन कठिनाइयों से भरा हुआ है, यद्यपि कभी-कभी हर्ष-विह्वल करनेवाले ऐसे अवसर भी आते रहते हैं जो जीवन को सरस बनाते हैं।

खस लोग सयुक्त परिवार में रहते हैं। कई भाई एक, दो या कई औरतों के साथ इकट्ठे एक ही घर में रहते हैं। सभी स्त्रियाँ सभी भाइयों की समझी जाती हैं। किसी स्त्री पर किसी भाई का विशेष अधिकार नहीं होता। बच्चों का पालन परिवार के सिपुर्द रहता है। किसी बच्चे का पिता कौन माना जाय इस सम्बन्ध में वहाँ यह परम्परा चली आती है कि जेठा लड़का जेठे भाई का, मँझला लड़का मँझले भाई का और इसी प्रकार दूसरे लड़के दूसरों के माने जाते हैं, चाहे उनका वास्तविक पिता कोई भी हो। अगर चार भाइयों के बीच दो स्त्रियाँ या एक ही स्त्री है, और उनके चार या पाँच बच्चे पैदा हुए और छोटे भाई ने नई शादी कर ली तो लड़के स्त्री के पास ही रहते हैं और स्त्री छोटे भाई के पास नहीं जा सकती, उसे बड़े भाई के पास ही रहना पड़ता है। लेकिन लड़के चारों भाइयों की सम्पत्ति से समान भाग पाने के अधिकारी होते हैं। लड़कों का यह हिस्सा बड़े भाई को दिया जाता है। अगर लड़के परिवार से अलग रहने लगते हैं, तो उनके विवाह का ख़र्च बड़े भाई को ही बर्दाश्त करना पड़ता है।

सम्पत्ति के उत्तराधिकार के परम्परागत नियम के अनुसार बँटवारा होने पर सम्पत्ति का बड़ा भाग जेठे भाई को ही मिलता है। प्रचलित उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियमों के अनुसार सम्पत्ति का बँटवारा नीचे लिखे ढग पर होता है। सम्पत्ति में से हर जाति की एक-एक वस्तु और एक खेत 'पीतन' (अर्थात् सब सतानों की समानता) के नाम पर और आधा खेत 'कचू' (अर्थात् सबसे छोटी सतान) के लिए अलग निकालकर बाक़ी सब बराबर-बराबर उनमें बाँट दिया जाता है।

खस जाति में परिवार के मकान पर जेठे भाई का ही अधिकार होता है; बग़ीचा, खेत की फ़सल, भेड़ और

दूसरे जानवर भी उसी के होते हैं और स्त्री और बच्चे भी उसी के भरण-पोषण और नियन्त्रण में रहते हैं। जेठा भाई परिवार का शासक होता है और दूसरे भाई उसके शासन और अधिकार को बिना ज़रा-सी भी हिचकिचाहट के स्वीकार करते हैं। ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं जिनमें छोटे भाई ने बड़े भाई के इस सामाजिक और आर्थिक एकाधिकार के खिलाफ़ विद्रोह किया है और उसे सम्पत्ति के बँटवारे या किसी खास स्त्री के साथ अकेले ही सम्भोग की सुविधा देने के लिए मजबूर किया है, किन्तु इस प्रकार के विद्रोह द्वारा उसे जितना व्यक्तिगत लाभ पहुँचा है, समाज की नज़रों में उसने अपनी उतनी ही प्रतिष्ठा खो दी है। प्राय उसकी औरत भी आगे चलकर उसका साथ छोड़ देती है। पूँजीवादी समाज में हम यह बात सुनकर आश्चर्य मालूम हो सकता है, लेकिन यह सत्य है कि अगर कोई व्यक्ति अपने माता-पिता की एकमात्र सन्तान हुआ तो खस जाति में उसके लिए शादी कर सकना अथवा शादी करके स्त्री को अपने पास रख सकना बहुत ही कठिन है। कारण, स्त्री अकेले व्यक्ति के साथ रहना पसन्द नहीं करती, क्योंकि परिवार के कार्य का बहुत बड़ा बोझ उस पर आ पड़ता है। इसलिए ऐसे व्यक्ति को अपने चचेरे भाइयों या दूसरे सम्बन्धियों को साथ रहने के लिए राजी करना पड़ता है, तभी वह विवाह करके गृहस्थ बन सकता है।

लोगों की बेहद गरीबी और इस शीतप्रधान प्रदेश में स्वतन्त्र रूप से जीविकानिर्वाह की कठिनता के कारण सम्पत्ति का बँटवारा आर्थिक दृष्टि से बहुत ही असुविधा-जनक होता है। परिवार-समूह के सदस्य और गाँववालों में सहयोग केवल जीवननिर्वाह के लिए ही अनिवार्य नहीं है बल्कि सगठित चोरी और डकैती से रक्षा की दृष्टि से भी ऐसा होना जरूरी है। साथ ही बड़े परिवार छोटे परिवारों की अपेक्षा जीविका प्राप्त करने में बहुत सहायक होते हैं। एक मर्तबा जौनसर-बावर के खसों के एक समूह से मैंने प्रश्न किया कि अब भी वे एक-एक स्त्री के अनेक पति होने की प्रथा को क्यों जारी रखना पसन्द करते हैं जबकि उनके पड़ोसी गढ़वालियों ने इसका परित्याग कर दिया है। इस पर मुझे बतलाया गया कि गढ़वालियों की दशा से उन्हें ईर्ष्या नहीं होती। गढ़वाली सयुक्त परिवार की एकता भग होने के फलस्वरूप घर छोड़कर चल दिए हैं। पहले गढ़वाल में भूमि की नाप एकड़ों में होती थी, बाद में बिस्वों में, उसके बाद छट्टों में, गट्ठों में और अत में गजों और फ़ीटों में। यहाँ तक कि आखिर में उन सभी को अपना-अपना गाँव छोड़ देना पड़ा और आज वे घरेलू नौकरों के रूप में सारे देश में फैले हुए हैं। खस लोगों को अपने घरों से प्रेम है और वे अपने पड़ोसियों के अनुभव की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते।

हम पहले ही कह आये हैं कि जौनसर-बावर में स्त्रियों का विवाह एक घर के कई भाइयों के साथ होता है। इस प्रकार जादो नामक गाँव में, जिसमें कि मैंने सन् १९३८ की ग्रीष्म ऋतु में जाँच की थी, मैंने देखा कि विवाहित पुरुषों की सख्या विवाहित स्त्रियों की सख्या से चौगुनी है। अगर यह मान लें कि विवाहिता स्त्रियों में से कुछ अपने माता-पिता के साथ रहने के लिए चली जाती हैं तो विवाहित पुरुषों और विवाहिता स्त्रियों की सख्या में ३ और १ का अनुपात माना जा सकता है। स्त्रियों और पुरुषों के सख्या में इस असमानता से विवाह की प्रचलित पद्धति अर्थात् स्त्रियों के अनेक पति की प्रथा के कारण की ठीक ठीक व्याख्या नहीं होती। क्योंकि स्त्री-पुरुषों के इस प्रकार के अनुपात का परिणाम ससार के अन्य भागों में कौमारव्रत (Celebacy), वेश्यावृत्ति अथवा समानलिङ्ग-वालों में मैथुन और स्त्रियों द्वारा अनेक पतियों का वरण हुआ है।

विवाहों की सख्या यह नहीं प्रकट करती कि पत्नियाँ बहुसख्यक हैं, क्योंकि तीन चार भाइयों के परिवार के पास किञ्चित ही दो से अधिक पत्नियाँ होती हैं, जो कि भाइयों के समूह के साथ पत्नियों के रूप में साथ-ही-साथ रह रही हों। शादियाँ साधारणतया बारी-बारी से होती हैं। एक पत्नी के तलाक़ के बाद दूसरी शादी की बारी आती है। एक और बात यह भी है कि स्त्रियों के अनेक पतिवाले समाज में बच्चों की सख्या बहुत थोड़ी होती है, क्योंकि चार से पाँच भाइयों के बीच प्राय तीन-चार बच्चे ही रहते हैं और कभी-कभी इससे भी कम। इसके अलावा जो सतान पैदा होती है उसमें लड़के अधिक और लड़कियाँ कम होती हैं। यदि पुरुषों और स्त्रियों का अनुपात इस क्षेत्र में इतना अधिक है तो लड़कों के बाहुल्य से परिस्थिति की गम्भीरता और बढ़ने में कोई सन्देह नहीं। इस क्षेत्र में जाँच-पड़ताल के परिणाम-स्वरूप जो एक दूसरी महत्वपूर्ण बात मालूम हुई है वह बन्ध्या औरतों की सख्या है। प्राय पति इस बात की दो-तीन साल तक प्रतीक्षा करता है कि पत्नी को कोई सन्तान होती है या नहीं, अगर उसे बच्चा नहीं हुआ तो उस स्त्री को लगता है कि परिवार को उसकी ज्यादा ख्वाहिश नहीं है

(बाईं ओर) लखामडल में स्थित खसों का एक मंदिर।
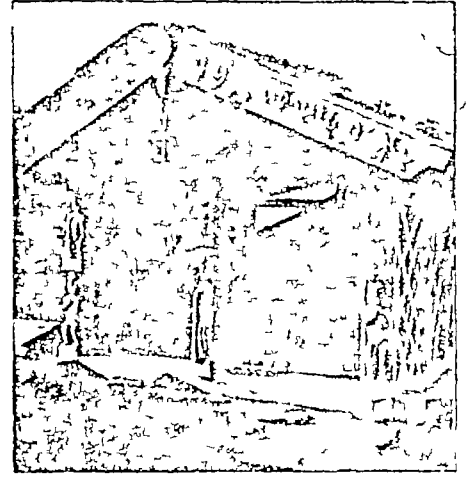
(दाहिनी ओर) खसों के एक मकान के सामने का भाग।

(बाईं ओर) खस जाति क एक पुरोहित।

(दाहिनी ओर) खसों में प्रचलित किसी पांडव की एक मूर्त्ति। ये पांडवों को अपने पूर्वज मानते हैं।

और तब वह नये पति की तलाश करती है। अगर परिवार के लोग उसकी ज़रूरत नहीं समझते, अथवा यदि वह काहिल है या जननेन्द्रिय-सम्बन्धी किसी रोग से पीड़ित है (जिसकी कि इस तरफ आम शिकायत है) या वह किसी गम्भीर सामाजिक अपराध की दोषी है—उदाहरणार्थ, वह जेठे भाई के साथ सहवास करने के लिए उस समय तक राजी न हुई हो जब तक कि वह मकान में रहता है—तो उसको तलाक़ दे दिया जाता है और ऐसी औरत के नये पति को भारी दहेज भी नहीं देना पड़ता। लेकिन यदि वह स्वय अपने पति को छोड़ देना चाहे और उसे जननेन्द्रिय-सम्बन्धी कोई बीमारी न हो तथा बच्चा पैदा करने की क्षमता का प्रमाण भी वह दे चुकी हो तो पति साधारणतया उसके नये पति से बहुत ही ऊँची क़ीमत की माँग करता है, और अगर नया असामी इस औरत से शादी करने ही पर तुला होता है तो उसे इस क़ीमत को चुकाना लाज़िमी है। इस तरह के मामले में एक स्त्री जितनी ही अधिक बार तलाक़ देती है, उतना ही अधिक अपना मूल्य बढ़ाने में वह समर्थ होती है, क्योंकि इस वधूमूल्य द्वारा शादी से पहले के पति और उसके परिवार के हर्जाने का चुकता हो जाना लाजिमी है।

जौनसर-बावर में तेरह-चौदह साल की लड़की से शादी कर लेना आसान है और कभी-कभी तो इसके लिए नाम-मात्र का ही वधू-मूल्य देना पड़ता है। इसके विपरीत एक ऐसी औरत का, जिसका दो या तीन बार तलाक़ हो चुका हो, एक अच्छा ख़ासा दाम मिलता है। बागर गाँव में एक ४५ वर्ष की औरत के लिए, जो कि चार बार तलाक़ दे चुकी थी, पाँचवें पति को उसके साथ शादी करते समय २८५) रु० मूल्य चुकाना पड़ा! यह मूल्य हास्यास्पद जान पड़ता है जब कि १५-२० वर्ष की एक लड़की २०-३० रुपये में ब्याही जा सकती है।

जाँच करने से पता चला है कि इस स्त्री ने प्रत्येक परिवार को, जिसमें कि उसकी शादी हुई, एक या दो बच्चे

दिए। और चूँकि लोग बच्चों की बहुत ज्यादा ख्वाहिश रखते हैं, इसलिए ऐसी स्त्री की, जिसने कि अपनी सन्तानोत्पत्ति की क्षमता का प्रमाण दे दिया है, ख़ास तौर से क़द्र की जाती है। वन्ध्या स्त्रियों की संख्या देखते हुए ऐसी स्त्री को, जिससे एक परिवार में बच्चा पैदा हो गया होता है, दूसरे परिवारों के लोग चाहने लगते हैं, जिससे कि वह जब कभी अवसर मिलता है, पुराने पति को छोड़कर नया पति चुनना पसन्द करती है। इसके अतिरिक्त चार-पाँच पतियों द्वारा अभिलषित होने के कारण उसका ध्यान शायद किसी पर अधिक नहीं जम पाता। इस प्रकार उसके एक परिवार से दूसरे परिवार में जाने की वैसी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया नहीं होती जैसी कि एकपत्नी या एकपति गमनवाले परिवार में साधारणतया होने की आशा की जाती है। इसके दूसरे कारण भी हैं। जौनसर-बावर में स्त्री को नैतिक आचरण के दो मापदण्डों के अनुसार चलना होता है—एक अपने नैहर में और दूसरे अपने ससुराल में। अपने नैहर में उसे हर प्रकार स्वच्छन्दता रहती है। यह विश्वास करना सम्भव है कि जौनसर बावर के किसी परिवार में जब कोई अतिथि आते हैं तो अतिथि-सत्कार के अन्तर्गत परिवार की विवाहिता अथवा अविवाहिता युवा लड़कियाँ अतिथि का सत्कार करते हुए हर तरह उसे सन्तुष्ट करने की कोशिश करती हैं। लेकिन पति के घर में विवाहिता लड़की के लिए सदाचारपूर्वक रहना और श्रद्धालु होना आवश्यक है और गाँव के तथा उसके परिवार के लोग उसकी गति-विधि पर कड़ी नज़र रखते हैं। उत्सवों और त्यौहारों के अवसर पर ही कोई स्त्री रिवाज के अनुसार अपने नैहर में वापस जा सकती है और दूसरे नैतिक मानदण्ड का लाभ उठा सकती है।

किसी संस्था का जन्म एक या कई कारणों से हो सकता है। स्त्रियों का अनेक पति से विवाह स्त्री-पुरुषों की संख्या के संतुलन के भंग होने का परिणाम हो सकता है। उदाहरणार्थ पुरुषों की जनसंख्या जहाँ पर अत्यधिक है, वहाँ स्त्रियों के अनेक पतियों से विवाह का आविर्भाव हो सकता है, लेकिन ऐसा होता ही हो, ऐसी बात नहीं।

जौनसर-बावर की दो स्त्रियाँ जो पाँच भाइयों के बीच में सामूहिक पत्नियों के रूप में रहती थीं।
(इस लेख के सभी फ़ोटो लेखक द्वारा लिये गए हैं)

आर्थिक रचना-प्रणाली के कारण सामाजिक प्रथाओं का जन्म होता है। सम्पत्ति-सम्बन्धी कारणों से ही तिब्बती, टोडा और अन्य समूहों में स्त्रियों के अनेक पति होने की प्रथा प्रचलित है। फिर भी मालूम होता है कि खस लोगों ने यह प्रथा दूसरों से ली।

वे उस भारतीय आर्य नस्ल के लोग हैं जो कि भाग्य के अनेकों चढ़ाव-उतार के बाद इन हिस्सों में आकर आबाद हो गये हैं। इसलिए दूसरे आक्रमणकारियों की तरह उनके पास भी शुरू-शुरू में बहुत थोड़ी-सी स्त्रियाँ थीं और कुछ समय तक, जब तक कि वे समूह के पुरुष सदस्यों की वैवाहिक आवश्यकताओं की पूर्ति भर को पर्याप्त स्त्रियाँ नहीं पैदा कर सके, उन्होंने शायद स्थानीय देशी स्त्रियों को अपनाया जो कि मंगोल नस्ल की थीं। लेकिन उनके पड़ोसियों में स्त्री-पुरुष की संख्या का अनुपात ऐसा था कि बड़े पैमाने पर मिश्रण होना अनुकूल नहीं पड़ता था।

ख़ानाबदोशी की ज़िन्दगी से स्त्रियों की पैदाइश में कमी पड़ी हो या नहीं, देहरादून ज़िले में, जिसमें कि ये लोग बसे हुए हैं, हमेशा स्त्रियों की संख्या का अनुपात पुरुषों की संख्या की अपेक्षा कम पाया गया है। इस क्षेत्र के मंगोलीय लोगों में, खस लोगों के यहाँ आने के पहले, स्त्रियों के अनेक पति होने की प्रथा प्रचलित थी। जौनसर-बावर में आज भी पुरुषों की जनसंख्या स्त्रियों की जनसंख्या से अधिक है और जब तक कि स्त्री-पुरुषों की संख्या में संतुलन नहीं स्थापित हो जाता स्त्रियों के अनेक पतियों के साथ विवाह करने की लोकप्रिय प्रथा बनी रहेगी। यद्यपि खस लोगों ने स्त्रियों की विवाह की यह प्रथा अपने पड़ोसियों से ली है, किन्तु उसके विरुद्ध कोई आपत्ति न उठाई जा सके इस दृष्टि से उसके सम्बन्ध में कुछ दन्तकथाएँ जोड़ दी गई हैं। आज भी जौनसर-बावर के रहनेवाले स्त्रियों की अनेक पति से विवाह की प्रथा के पक्ष में दलील देते हैं कि उनके पूर्वज पाण्डव लोग इस प्रथा पर चलते थे और उनके वंशज होने के नाते इस प्रथा पर उन्हें गर्व है।

एक महीने के अंतर से दूरदर्शक से लिये गये मंगल ग्रह के दो फ़ोटो

बाईं ओर अक्टूबर ४, १९०९,-और दाहिनी ओर नवंबर ३, १९०९, को लिया गया मंगल का फ़ोटो है। ये फ़ोटो माउंट विल्सन वेधशाला के ६० इंची दूरदर्शक द्वारा लिये गये थे। एक महीने ही में मंगल के पृष्ठ के धब्बों में कितना अंतर हो गया है! [फ़ोटो—'माउंट विल्सन वेधशाला', अमेरिका, से प्राप्त।]

शक्ति पृथ्वी की अपेक्षा केवल एक-तिहाई होगी। एक-दो वैज्ञानिकों को कुछ ऐसी भी आशा है कि भविष्य में पृथ्वी-वासी शायद रॉकेट-वायुयान द्वारा मंगल पर पहुँच सकें (दे० १०५५ पृष्ठ)। यदि ऐसा कभी सम्भव होगा तो वहाँ पहुँचने पर कम आकर्षण-शक्ति के कारण हमें कई विचित्र बातों का अनुभव होगा। इस संबंध में एक वैज्ञानिक पत्रिका में एक लेखक लिखता है कि अच्छा होगा यदि हम साथ में ताक़तवर राइफ़ल ले लें; कौन जानता है वहाँ कैसे-कैसे प्राणियों से सामना करना पड़े! मंगल पर पहुँचने के पहले हमें गैस-मास्क पहन लेना पड़ेगा और उस मास्क को हवा की टंकी से जोड़ लेना होगा, क्योंकि सम्भव है मंगल के वायु में विषाक्त गैसें हों, या काफ़ी ऑक्सिजन न हो। निस्सन्देह, मंगल पर पैर रखते ही अपने शरीर में हमें आश्चर्यजनक हल्कापन जान पड़ेगा। दस फ़ुट ऊँचा कूदने में कुछ मिहनत ही न पड़ेगी और मज़ा यह कि हम इतना ऊँचा कूदने पर भी इतने धीरे से गिरेंगे कि हाथ-पैर न टूटेगा। तरबूज़ के बराबर पत्थर को हम आसानी से साठ फ़ुट दूर फेंक देंगे और स्वयं चालीस फ़ुट दूर तक कूद सकेंगे! यह बात नहीं है कि मंगल पर पहुँचकर हम कुछ अधिक तगड़े हो जायँगे। नहीं, यह सब हम वहाँ केवल कम आकर्षण-शक्ति के कारण कर सकेंगे। हमारे हाथ-पैर पृथ्वी पर काम करने के लिए बने हैं। इसलिए मंगल पर हम तिगुने मज़बूत जान पड़ेंगे। यदि मंगलनिवासी हमसे लड़ने आयेंगे तो अवश्य ही हम उनके तीन के बराबर तगड़े पड़ेंगे, और यदि वे बहुत-से एक साथ ही हम पर टूट पड़ेंगे तो हम उनसे तिगुना तेज़ दौड़कर आसानी से भाग निकलेंगे!

पहले कम आकर्षण-शक्ति के कारण कुछ हास्यजनक बातें भी घटित होंगी। उदाहरणतः, बैठने में स्पष्ट रूप से बल लगाना पड़ेगा। पृथ्वी पर तो घुटना और कमर मोड़ते ही हम आकर्षण-शक्ति के कारण चट बैठ जाते हैं। मंगल पर यह शक्ति हमारी इतनी सहायता न कर सकेगी। वहाँ पानी भी उँड़ेलने पर इतने धीरे से गिरेगा जैसे रुई हो!

मंगल पर हम अपनी रसोई भी न बना सकेंगे। पृथ्वी के पहाड़ों पर वायु का चाप थोड़ा ही कम रहता है; तो भी वहाँ दाल नहीं गलती। परंतु मंगल पर तो वायु का
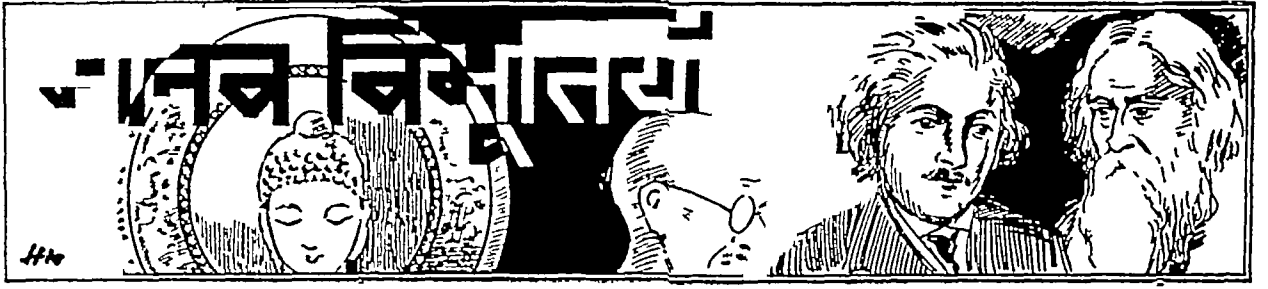
अगस्त्य

अगस्त्य का नाम मानों भारत और उसके बृहत्तर रूपो को मिलानेवाला सेतु है, जिसकी स्मृति समुद्र के इस पार और उस पार भी आज तक सुरक्षित है। बृहत्तर भारत का अद्‌भुत विस्तार संसार की एक अत्यन्त आश्चर्यजनक घटना है। अगस्त्य ऋषि इस निखिल विस्तार के एक सुंदर प्रतीक हैं।

अगस्त्य मुनि की कथा भारतवर्ष के बृहत्तर विस्तार की सूचक है। भारत के इतिहास का यह प्रकरण अभी तक अछूता पड़ा हुआ है कि किस प्रकार सप्तसिंधु और गगा की अन्तर्वेदी में पल्लवित सभ्यता का विस्तार न केवल विन्ध्य-मेखला और दुस्तर दडकवनों को पार करके मलय और सिंहल तक फैल गया, बल्कि समुद्र के पार पूर्वी द्वीपसमूह के बाली, जावा, सुमात्रा आदि देश भी उसकी अमर धर्म-विजय के शरणागत बन गए। प्रारम्भ से ही देश में दुर्धर्ष विस्तार करने की शक्ति भारतीय चरित्र की विशेषता रही है। बौद्ध जातकों से भारतीय समुद्र-वाणिज्य के पुष्ट प्रमाण मिलते हैं। बावेरु जातक के अनुसार प्राचीन बाविरु या बेबिलन से भारत का व्यापार होता था। ईरानी सम्राट् दारा (शुद्ध रूप दारयवहु=धारयद्वसु) के प्राचीनतम शिलालेखों में सिंधु (अर्थात् भारतवर्ष) और कुशावती (अर्थात् अबीसीनिआ) का स्पष्ट उल्लेख है। कुशावती या कुशद्वीप भारतवासियों का नामकरण है। इसी कुशद्वीप की नील नदी का जो वर्णन पुराणों में दिया हुआ है उसको आधार मानकर श्री जे० एच० स्पीक ने नील के उद्गम-स्थान का पता लगाया था और उन्होंने अपनी "नील नदी के उद्‌गम की खोज" नामक पुस्तक में पुराणवर्णित भौगोलिक वर्णन की प्रामाणिकता की सराहना की है।*

एशिआ माइनर, फ्रिजिआ आदि देशों में आर्यों के प्रसार की कथा का ऐतिहासिक आधार तो ईसा से भी पद्रह शताब्दी पूर्व तक जाता है। मैक्सिको की मय जाति की सभ्यता की भारतीय सस्कृति के साथ समानता की पर्याप्त चर्चा विद्वानों मे हुई है। उनकी ज्योतिष और गणित तथा कुछ भाषाओं का भी हमारे साथ विलक्षण साम्य है। मिस्र देश से मिले हुए एक प्राचीन यूनानी नाटक में कन्नड़ भाषा का एक लम्बा कथनोपकथन पाया गया है। लम्प्सकस नामक स्थान से प्राप्त एक चाँदी की थाली पर हाथीदाँत के पायों के आसन पर बैठी हुई भारतमाता का चित्र उत्कीर्ण है, जो लगभग दो सहस्र वर्ष प्राचीन है†। मध्य एशिया के अनेक स्थानों का नामकरण भारतवासियों ने किया। खोतन का प्राचीन नाम कुस्तन और फरगने का प्रकण्व था। वहाँ के बालुकामय प्रदेशों से सस्कृत के काव्य, नाटक और आयुर्वेद के ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। मगोल सम्राट् कुबलइ ने तिब्बत के मतिध्वज पडित को अपने यहाँ आमन्त्रित करके मगोल भाषा लिखने के लिए ब्राह्मी के आधार पर एक लिपि निर्माण करने का आदेश दिया। मतिध्वज के उस कार्य को साहित्यप्रेमी सम्राट ने स्वीकार किया। अफ़गानिस्तान तो भारत वर्ष के लिए एक ऐसा प्रान्त ही था जैसा गुजरात। ऋग्वेद से लेकर विक्रम की नवीं शताब्दी तक गन्धार हमारे प्राचीन व्यापार एव सस्कृति के बृहत्तर प्रचार का

* Cunningham Ancient Geog, S. N Majumdar's Introduction, p xxxviii

† Warmington, The Commerce between the Roman Empire and India, p 143, with illustration.

अगस्त्य के जीवन की जो कुछ घटनाएँ भारतीय साहित्य में मिलती हैं उन पर भी संक्षिप्त विचार कर लेना आवश्यक है। ऋग्वेद-युग से ही अगस्त्य और उनकी पत्नी लोपामुद्रा का नाम हमें मिलता है। ऋग्वेद (१।११७।११) के अनुसार अगस्त्य को मान का पुत्र कहा गया है। उनकी संज्ञा 'मान्य' थी। तपस्वी अगस्त्य और लोपामुद्रा के संवाद से विदित होता है कि लोपामुद्रा ने अगस्त्य को अपने प्रणय-पाश में आसक्त करके उनके साथ विवाह किया। महाभारत (वनपर्व अ० ९६-९७) के अनुसार लोपामुद्रा विदर्भ देश की राजकुमारी थी, जिसके साथ अगस्त्य का विवाह हुआ। ऋग्वेद में अगस्त्य को वसिष्ठ का बन्धु कहा गया है। अगस्त्य एक गोत्र के प्रवर्त्तक भी हुए। गढ़वाल में रुद्र-प्रयाग के पास 'अगस्त्य मुनि' नामक एक स्थान है। परन्तु अगस्त्य मुनि का आश्रम चंचल मृगजल की तरह किसी एक प्रदेश में टिकाऊ न था। अनेक स्थान इस गौरव के भागी हैं। वस्तुतः अगस्त्य के आश्रमों की स्थिति उत्तरापथ से दक्षिण की ओर आर्यजाति के प्रसार को सूचित करती है। महाभारत वनपर्व (अ० ८७) में प्रयाग के आसपास अगस्त्य मुनि के आश्रम का वर्णन है। वहीं कहीं प्रयाग के निकट ही अगस्त्य के नाम से एक पर्वत या चोटी का नाम भी प्रसिद्ध था। उसी पर्व के ८२ अध्याय में 'अगस्त्य-सर' नामक एक तीर्थ का वर्णन है, जो सम्भवतः मालवे में था। पांडवों ने इस तीर्थ की यात्रा की थी। रामायण में कहा गया है कि विश्वामित्र मुनि के साथ राम और लक्ष्मण उस स्थान को देखने गए थे, जिसे यक्षिणी ताड़का ने निर्जन बना दिया था। पूर्वकाल में वहाँ पर अगस्त्य का निवास था। यह स्थान गंगा और शोण के बीच में शाहाबाद जिले में कहीं पर था (आदि कांड सर्ग २७, २८। ८-१२)। इससे सूचित होता है कि आर्यों का औपनिवेशिक मार्ग दो प्रकार से था। एक तो गंगा की अन्तर्वेदी से पूर्व की ओर महोदधि के तट तक जाकर कलिंग देश के बीच में होकर पूर्वी महेन्द्र पर्वत की तलहटी में होकर दक्षिण चोलमंडल तक चला गया था। आज तक यह मार्ग सुरक्षित है। इसी मार्ग में विशाखापत्तन आदि बड़े-बड़े नगरों के संस्कृत नाम

दक्षिण भारत के चिदम्बरम् नामक स्थान में स्थित नटराज के सुप्रसिद्ध देवालय के पूर्वीय गोपुरम् में बनी हुई अगस्त्य ऋषि की मूर्त्ति

इसका निर्माण-काल तेरहवीं शताब्दी है। (कॉपीराइट फोटो—आरकियालॉजिकल सर्वे आफ इंडिया।)

आज भी जीवित हैं। ये नगर उन उपनिवेशों के सूचक हैं जो अपनी प्रगति के मार्ग में आर्यों ने बसाये होंगे। एक विचित्र बात यह है कि इन्हीं नगरों से मिले हुए गाँवों के नाम दक्षिण की ठेठ अपनी भाषाओं के हैं। समस्त दक्षिणापथ में भौगोलिक नामों का यह विलक्षण मिश्रण पाया जाता है। दक्षिणी अमरीका या मेक्सिको आदि प्रदेशों में भी उपनिवेशों के नाम इसी प्रणाली से निश्चित हुए हैं। नगरों के नाम अंग्रेजी भाषा में और छोटे खेड़ों और गाँवों के नाम स्थानीय भाषाओं में हैं। दक्षिण-यात्रा का दूसरा मार्ग दण्डकारण्य के बीच में होकर था। वस्तुत भौगोलिक दृष्टि से यही मार्ग अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। इसे उत्तर-दक्षिण के यातायात की धमनि ही कहना चाहिए। जिस युग में अगस्त्य ऋषि ने विन्ध्याचल का गर्व खंडित करके इस मार्ग की स्थापना की होगी, तब से आज तक इस मार्ग का महत्त्व अटूट बना हुआ है। रामचन्द्र ने वनवास के समय इसी मार्ग से दक्षिण में प्रवेश किया था। वाल्मीकि ने इसी मार्ग के आश्रय से राम के प्रस्थान का वर्णन किया है। अयोध्या से तमसा (वर्तमान टास, सरयू से १२ मील पश्चिम), वेदश्रुति (बौका नदी), गोशल, गोमती, स्यंदिका (सई), शरयू वन पार करते हुए राम गंगा-तट पर शृङ्गवेरपुर पहुँचे। यहाँ तक उत्तम सड़क बनी हुई थी। इसके आगे राम रथ विदा करके पैदल ही चले। गंगा पार करने के लिए नाव मिली, पर आगे प्रयाग में भरद्वाज आश्रम से होकर करीब बारह मील प्रतिदिन चलते हुए, राम ने यमुना पार की तब लक्ष्मण को अपने हाथ से बाँस और झाड़ का बेड़ा बनाना पड़ा। चित्रकूट में अत्रि आश्रम से आगे अनेक आश्रमों में होते हुए विराध के पास सरभंग ऋषि का आश्रम मिला। वेणा (आधुनिक वैनगंगा) के स्रोत के आसपास सुतीक्ष्ण का आश्रम था। यहाँ समीप में पञ्चाप्सरस् सरोवर के पास रामगिरि (आधुनिक रामटेक) पर्वत पर राम ने दस वर्ष व्यतीत किए। यहीं मेघदूत के 'जनकतनयास्नान पुण्योदक आश्रम' थे। सुतीक्ष्ण के आश्रम से लगभग पाँच योजन पर अगस्त्य मुनि का अत्यन्त प्रसिद्ध आश्रम था।

अगस्त्य ने राम को पचवटी का मार्ग बताया।* आज भी मनमाड़ के दक्षिण में चार मील की दूरी पर नासिक को जानेवाली सड़क के बाईं ओर 'अगस्तिपुरी' में अगस्त्य मुनि की कुटिया बताई जाती है।

इस प्रदेश से बढ़कर अगस्त्य का अगला स्थान दक्षिण के मलय पर्वत में प्राप्त होता है। भास ने अविमारक नाटक में कहा है—'अद्य भगवन्तमगस्त्यमाराधयितु मलयपर्वते विद्याधरैरुत्सवः प्रारब्धः।' अर्थात् आज भगवान् अगस्त्य की पूजा के लिए मलय पर्वत पर विद्याधरों का उत्सव है। तामिल के प्रसिद्ध महाकाव्य शिलप्पादिकारम् (सर्ग ८) में अगस्त्य को 'पोडियिल पर्वत का अधिपति ऋषि' कहा गया है। यह पाण्ड्य देश में मलय पर्वत की ही एक चोटी की संज्ञा थी। तामिल पुराणों के अनुसार इन्द्र-पुत्र जयन्त और उर्वशी को अगस्त्य के कोप का भाजन बनना पड़ा था। शापभ्रष्ट उर्वशी ही शिलप्पाधिकारम् (= नूपुर वृत्तान्त) महाकाव्य की प्रतिसुन्दरी नायिका माधवी थी। इस प्रकार तामिल साहित्य में अगस्त्य सदा से गौरवशाली पद पर अधिष्ठित रहे हैं।

सुग्रीव ने सीता-अन्वेषण का मार्ग बताते हुए हनुमान् से मलय पर्वत पर अगस्त्य के दर्शन करने को कहा (किष्कि० ४१।१६) और उसके भी बाद सागर के बीच में अगस्त्य से विनिवेशित किसी पर्वत पर ढूँढने का आदेश दिया।

भारत की सीमा समाप्त होने पर अगस्त्य बृहत्तर भारत की वस्तु हो जाते हैं। अगस्त्य का नाम मानों भारत और उसके बृहत्तर रूपों को मिलानेवाला सेतु है, जिसकी स्मृति समुद्र के इस पार और उस पार भी आज तक सुरक्षित है।†

* राम की वनयात्रा के मार्ग के लिए देखिए—Pargiter, Geography of Rama's Exile, JRAS, 1894, pp 231-264

† जावा द्वीप के मध्य प्रदेश से ईस्वी सन् ७३२ का खुदा हुआ एक लेख मिला है। इसमें दक्षिण भारत में स्थित अगस्त्य ऋषि के "कुंजर कुंज" नामक आश्रम् का उल्लेख है। ईस्वी सन् ७६० के एक अन्य लेख में महर्षि अगस्त्य की एक प्रतिमा की स्थापना का ज़िक्र आया है। इसके बाद के ईस्वी सन् ८६३ के एक अभिलेख में, जो संस्कृत में नहीं है, बल्कि जावा की प्राचीन भाषा में है, यह वक्तव्य है कि अगस्त्य के वंशज जावा द्वीप में आकर बस गये थे। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि उपरोक्त काल के लगभग अगस्त्य का मत वहाँ प्रचलित था। (The Cultural Heritage of India, Vol 3, p 112)

समुद्र के गर्भ में

आधा मील की डुबकी लगानेवाला साहसी डा० बीब

प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन करने की अदम्य जिज्ञासा से प्रेरित होकर मनुष्य ने आकाश, धरती और सागर—सभी के परदे के भीतर झाँकने की कोशिश की है। प्रस्तुत लेख मनुष्य के उपरोक्त साहसपूर्ण प्रयत्नों के अमर इतिहास का ही एक अध्याय है।

बुधवार, १५ अगस्त, १६३४, का प्रातःकाल! बरमुदा द्वीप के नॉनसच बन्दरगाह पर पौने सात बजे लोगों की ख़ासी भीड़ जमा है! समुद्र के बीच खड़े एक स्थिर-से जहाज पर लोगों की आँखें गड़ी हैं। डेक पर कुछ लोग एक बड़े ढोल के पास खड़े हैं, जिसमें कुछ हजार फीट रस्सी लपेटी पड़ी है। रस्सी का मुँह पानी में उतार दिया गया है और धीरे-धीरे ढोल से रस्सी निकलती जा रही है! साथ ही एक तख्ते पर सूचना के लिए कुछ अंक भी लिखे जा रहे हैं।

लगभग साढ़े चार घंटे से भी अधिक समय तक लोगों की जिज्ञासु दृष्टि इस दृश्य को देखती रही। घड़ी ने सवा ग्यारह बजाया। लोगों ने तख्ती पर देखा–'३०२८ फ़ीट'! और रस्सी वापस ढोल में लपेटी जाने लगी। अब लोगों की आँखें पानी से निकलती हुई उस रस्सी की ओर खिंच गईं। थोड़ी ही देर बाद पाँच फ़ीट चौड़ा एक फौलादी गोला पानी की सतह से ऊपर निकल आया। अभी वह आधा ही बाहर निकला था कि उसके गोल चमकते हुए छोटे-से दरवाज़े में से एक आदमी का चेहरा और आँखें चमक उठीं!

हथौड़े और औजारों की मदद से स्फटिक का चमकीला दरवाजा अलग कर दिया गया। एक लम्बा, दुबला-पतला आदमी इस १४ इंच चौड़े दरवाज़े में से सिर के बल बाहर निकला, एकदम प्रसन्न और विजयसूचक मुखमुद्रा लिये हुए! दुनिया का यह पहला आदमी था जिसने समुद्र में आधे मील से भी अधिक नीचे तक ग़ोता लगाने में सफलता प्राप्त की थी।

डाक्टर विलियम बीब का नाम आज जन्तु-विज्ञान एवं समुद्री खोज के विशेषज्ञ के नाते सारी दुनिया में विख्यात है। सन् १६३१

समुद्र के गर्भप्रदेश के आविष्कारक डा० बीब (चित्र में दाहिनी ओर) और उनका अद्‌भुत पनडुब्बा गोला

यह बरमुदा में ३०२८ फ़ीट (लगभग आधा मील) गहरा गोता लगाने के बाद समुद्र से बाहर निकलने के समय लिया गया फ़ोटो है।

से लगातार यह साहसी व्यक्ति समुद्र के अन्दरूनी रहस्यों के अनुसंधान में संलग्न रहा है। खतरों की परवा न कर वह साहसिक केवल गोताख़ोरों का कवच पहने ही दो बार समुद्रतल की काफ़ी गहरी सैर कर चुका था, किन्तु जिज्ञासा और भी अधिक गहरे पैठने के लिए उसे प्रेरित कर रही थी। उल्लिखित कवच इस काम में साथ नहीं दे सकता था, इसीलिए इस अजीब फ़ौलादी गोले का आविष्कार किया गया।

पाँच फ़ीट की इसकी चौड़ाई है। दरवाज़े की जगह पर एक १८ इंची छेद है, जिसे स्फटिक की तीन इंच चौड़ी पारदर्शक तख़्ती से बंद कर दिया जाता है। अन्दर बैठा हुआ आदमी बाहर का दृश्य इसमें से बख़ूबी देख सकता है। इस गोले का 'बॉथीस्फीअर' (Bathysphere) नाम दिया गया है। अन्दर दो आदमी के लिए बैठने की जगह, ऑक्सीजन की टुम्बियाँ, कैमेरा, टेलीफ़ोन, तथा कुछ वैज्ञानिक यंत्र एवं रासायनिक चीजें रक्खी हुई हैं। सर्चलाइट और गर्मी के लिए बिजली का प्रबन्ध है। पानी की गहराई में इन यात्रियों की जीवन-रक्षा एवं घने अंधकार में जन्तु-परीक्षा के लिए ही इसमें यह सब बनावट की गई है।

गोला था तो बहुत पहले ही तय्यार हो चुका था, किन्तु १९३३ के पूरे साल भर वह यों ही पड़ा रहा—कुछ मौसम की अनुकूलता न होने के कारण और कुछ कल-पुर्ज़ों के अधूरेपन की वजह से। इस बीच लाखों मनुष्यों ने इसके भीतर झाँककर कहा—ईश्वर बचाए, ऐसे भयानक गोले में बैठ हमें समुद्र में नहीं उतरना। यह था भी दरअसल ऐसा ही। मकड़ियों ने सुरक्षित स्थान समझ इसमें अपने जाले बड़े इत्मिनान से बना लिए थे। चारों ओर धूल जमा थी। जंग ने पुर्ज़ों को बेकार बना रक्खा था। इनकी सफ़ाई निहायत ज़रूरी हो गई थी।

अगस्त १९३४ में गोता लगाने का तय हुआ, किन्तु चलने के पहले जब वैज्ञानिकों ने कल-पुर्ज़ों की परीक्षा की तो स्फटिक की खिड़की को टूटा पाया। इसे दूसरी अच्छी स्फटिक तख़्ती से बदल दिया गया। ऑक्सीजन की टुम्बी, टेलीफ़ोन के यंत्र, वग़ैरह भी नए फ़िट कर दिए गए। दूर से स्फटिक की खिड़की अब कोहनूर हीरे की तरह चमक रही थी। डाक्टर बीब का दिल भी खिल उठा। उसे निश्चय हो गया कि अब वह मनमानी गहराई तक उतर सकेगा।

आइए, अब हम आपको समुद्र के भीतर ले चलते हैं, जहाँ 'बॉथीस्फीअर' में सुरक्षित बैठे डाक्टर बीब और उनके मित्र मि० बॉर्टन समुद्र के अद्भुत दृश्यों का निरीक्षण कर रहे हैं। मि० बार्टन का कैमेरा अपने काम में व्यस्त है। मुँह के सामने लगे टेलीफ़ोन से लगातार ऊपर ख़बरें भेजी जा रही हैं। उनके कान ऊपर की ख़बर सुनने में लगे हुए हैं। उनके चारों ओर घना अंधकार है। साँय-साँय करती हुई पानी की तेज लहरें उनके बॉथीस्फीअर पर कई टन का दबाव डाल रही हैं। इस वक्त वे समुद्र की सतह से कोई २००० फ़ीट की गहराई में चक्कर काट रहे हैं। अचानक उन्हें सर्दी मालूम हुई। उन्होंने बिजली का एक बटन दबाया और उनका बॉथीस्फीअर गरम हो गया।

जब वे पानी में उतरे थे, उस वक्त सूर्य के प्रकाश से पानी सुनहला हो रहा था। वे अधिकाधिक नीचे धँसते चले जा रहे थे। पानी का रंग धीरे-धीरे हरा और फिर नीला हो गया। उस वक्त वे १६० फ़ीट से अधिक गहराई में उतर चुके थे। उनके बॉथीस्फीअर की काली दिवालें भी हरी-नीली झाँई से चमक उठीं। वे समुद्र के बीच उगी हुई झाड़ियों को चीरते हुए नीचे उतरते गए। विचित्र विचित्र प्रकार की छोटी मछलियाँ उनके दरवाज़े के सामने से फुदक जातीं।

२०० फ़ीट की गहराई में रंग फीका पड़ गया। आँखें मलने पर भी यह निश्चय नहीं हो सका कि पानी का रंग हरा है या नीला अथवा दोनों ही रंग का। उस हरे-नीले प्रकाश में उन्होंने वे मछलियाँ देखीं जो कभी-कभी समुद्र की सतह पर भी चक्कर लगा देती हैं। अब वे कुछ और नीचे उतरे। अन्धकार बढ़ता गया। ३२० और इससे अधिक गहराई पर कुछ मछलियाँ नाचती हुई इनकी स्फटिक की खिड़की के सामने से निकल गईं। वे चमक रही थीं, सितारों की तरह। ज्यों-ज्यों ये नीचे बढ़ते गए, अन्धकार भी घना होता गया। लेकिन इस घने अन्धकार में ये स्वयं-प्रकाशित मछलियाँ आकाश में फैली नक्षत्र-मालिका की तरह चमचमाती थीं।

वे नीचे उतरते ही गए, ४००–५००–६०० फ़ीट नीचे। अंधकार भी इनके साथ-साथ बढ़ता चला जा रहा था। सर्दी इतनी अधिक बढ़ गई थी कि उनके हाथ और बदन काँपने लगे थे, किन्तु उनका धैर्य न टूटा। टेलीफ़ोन द्वारा लगातार वे समुद्र के रमणीय दृश्य का हाल ऊपर खड़े लोगों को सुनाते जा रहे थे। एक बड़ी सी मछली चमककर बड़े कौतूहल के साथ उनके बॉथीस्फीअर को छूती हुई निकल गई। कहीं बड़ी-बड़ी पंखोंवाली, कहीं धनुषा-

कार, कहीं तीर की तरह लम्बी मछलियाँ उनके सामने नाचतीं, फुदकतीं और अपने संसार में इस नए बड़े-से गोल जन्तु को देख खिलखिलाकर हँस पड़तीं। वे चकित और मुग्ध थीं बॉथीस्फीअर की घरघराहट और सर्च-लाईट की तेज रोशनी पर। उनमें भय का भी संचार हो रहा था। सदियों से क्या, अनगिनत युगों से इस 'अँधेरे प्रदेश' में प्रकाश की एक भी किरण न पहुँच पाई थी। अन्धकार का ही यहाँ एकछत्र राज्य था। लाखों वर्षों के अंधकार के इस प्रदेश में आज अचानक यह अजीब-सा चमकीला गोल जंतु कहाँ से आ पहुँचा! पाताल के निवासी इन एकांत जीव-जंतुओं में इसके कारण मानो तहलका मच गया था।

७०० फ़ीट से १००० फ़ीट की गहराई में और भी कई अजीब वस्तुएँ देखने में आईं। कॉपेपॉड्स, सेगिटा और ऐसी अनेक मछलियाँ दिखाई पड़ रही थीं। टेलीफ़ोन पर इन सबका वर्णन करते-करते बीब का मुँह थक चला था। लेकिन ज्यों-ज्यों नए-नए आश्चर्य उसके सामने आते जा रहे थे, उसका उत्साह बढ़ता जा रहा था।

डा० बीब और उनके पनडुब्बा गोले का एक और चित्र

(डा० बीब बाईं ओर हैं।)

पानी का रंग इस वक्त ऐसा था जैसा अमावस की रात का होता है—धुँधला, अस्पष्ट। दोपहर की दमकती सूर्य-किरणों का भी प्रवेश इस भाग में निषिद्ध था। बिजली का एक बटन दबा और आसपास का भाग चमक उठा। एक चार फ़ीट लम्बी काली आकृति सामने आ रही थी। उन्होंने फौरन् बत्ती बुझा दी। किन्तु वह मछली न जाने कहाँ ग़ोता खा गई। वे और नीचे उतरे—११०० फीट। बिजली के प्रकाश से समुद्र का अंतरतम फिर जगमगा उठा था। एक मछली सर्चलाइट की रोशनी में कुछ देर तक बड़े मज़े से झूलती रही। एक और मछली उनकी स्फटिक की खिड़की को झाड़ू लगाती हुई भाग गई।

१५०० फ़ीट की गहराई पर उनके हाथ पैर काँपने लगे—भय से नहीं, सर्दी से। गहरा अंधकार और कड़ाके की सर्दी—और वह भी पानी की छत के नीचे—दिल दहला देनेवाली चीजें हैं। और फिर यदि देखने ही की बात होती तब भी ठीक था, पर उन्हें तो लगातार बोलना था उस प्रदेश के बारे में जहाँ की जानकारी उनसे कोसों दूर थी। जरा सोचिए, क्या हालत होगी उस आदमी की, जिसे लंदन शहर में दाख़िल होते ही वहाँ के रीति-रिवाज़ों और रहन-सहन पर भाषण अथवा राय देने के लिए मज़बूर कर दिया जाय!!

ऊपर के लोग बड़े भय और आश्चर्यमिश्रित कौतूहल से नीचे का हाल टेलीफोन पर सुन रहे थे कि एकाएक सबके मुँह सूख गए! बॉथीस्फीयर ख़तरे में है! पाँच सैकण्ड बीते और फिर पाँच सैकण्ड हो गए, लेकिन डाक्टर बीब टेलीफ़ोन पर से मानों ग़ायब थे। इतने विलम्ब का अर्थ था ख़तरा! जवाब के लिए लगातार ऊपर से घंटी बजती रही, लेकिन कोई उत्तर नहीं! भयोत्सुक सब चुप एकटक डेक पर पड़ी मौन घंटी को देखते रहे। आख़िर टेलीफ़ोन को क्या हुआ? क्या वे दोनों साहसिक सचमुच ही ख़तरे में पड़ गए? समूचे गोले को कोई बड़ी सी मछली तो नहीं निगल गई? या बॉथीस्फीअर ही तो न फट पड़ा? पर बात दरअसल कुछ और ही थी। वास्तव में, बीब ने एक ऐसी आश्चर्यजनक मछली देखी कि वह टेलीफ़ोन छोड़ मि० बार्टन को उनके कैमेरे से हटा अपने पास घसीटने के लिए दौड़े। मछली बहुत बड़ी नहीं थी, केवल २ फीट उसकी लम्बाई थी। लेकिन उसके शरीर पर मानों हीरे,

पन्ने, माणिक और मोती सब जड़े थे। पाँच क़तारो में ये बड़े सुहावने चमक रहे थे। कुछ ही सेकेण्ड तक वे इस विचित्र मछली को देख पाए होंगे कि वह इठलाती हुई अपनी झलक दिखा गोता लगा गई।

इस समय वे २३०० फ़ीट की गहराई में थे। उनके नए रिकार्ड क़ायम करने के उपलक्ष्य में ऊपर से टेलीफ़ोन द्वारा बधाइयाँ भेजी जा रही थीं। केवल 'धन्यवाद' कहकर ही डाक्टर बीब फिर नए-नए जन्तुओं के वर्णन में लग गए। २५०० फ़ीट पर पहुँचकर उन्होंने आधे घंटे विश्राम लिया, पानी की छत के ही नीचे। चौड़ी, लम्बी और चन्द्रमा-सी चपटी मछलियों ने उनका आतिथ्य किया। कुछ ने इतनी ज़ोर से इन्हें धक्का दिया कि बॉथीस्फीअर की दीवाल से इनके सिर टकरा गए। सचमुच ही बड़ी मजेदार विश्रामस्थली रही होगी वह!

अब वे और नीचे उतरे। अन्धकार उनके साथ था—इतना घना कि उसके मुक़ाबले में सावण की अमावसवाली रात को भी काली कहने म हिचकिचाहट होगी। १५०० वॉट की रोशनी के सहारे वे नीचे की ओर घुसे चले जा रहे थे। साहस था, धैर्य था और प्रबल जिज्ञासा थी। इसी समय एक इन्द्र-धनुप ने उनका स्वागत किया। तदनतर एक सीधी लाल मुँहवाली मछली आई और कुछ देर इन्हें देख चली गई। एक और मछली, जिसकी आँखें चाँदी की तरह चमक रही थीं, इसी तरह एक झलक दिखाकर डूब गई। इन जन्तुओं की यह फ़िल्म बदलती ही जा रही थी।

२४०० और २५०० फीट की गहराई में उन्हें और कई विचित्र जन्तु मिले। एक बड़ा-सा मच्छ ऐसा चमक रहा था मानो "समुद्री बिजलीघर" हो। तमाम जलप्रदेश उसके प्रकाश से उद्भासित था। कुछ जन्तु ऐसे थे जिनके केवल दाँत ही चमकते थे। कोई-कोई तीखे काँटे लिये हुए थे। कोई हल्के थे तो कोई मनों भारी। इस प्रदेश मे इन्हीं का एकछत्र राज्य था।

पर इन जतुओं का जीवन भी सघर्ष से ख़ाली नहीं दिखाई पड़ा। सबल की ही सत्ता का नियम यहाँ और भी प्रबल एव प्रत्यक्ष रूप से सामने आया। यहाँ की छोटी मछलियों का जीवन पृथ्वी के निरीह एव असहाय मनुष्यों से अधिक सुरक्षित नहीं। ऊपर जिस तरह कुछ लोगों के स्वार्थ के कारण अन्य लोगों का निरन्तर रक्तशोषण हुआ करता है वैसी ही प्रवृत्ति पृथ्वीतल से २५०० फ़ीट नीचे भी काम करते स्पष्ट रूप से दिखाई दी। यह सघर्ष न जाने कब से चला आ रहा है और न जाने कब ख़त्म होगा!!

लेकिन यह क्या, उस छोटी-सी मछली ने उस भीमकाय मच्छ को भगा दिया! मछली अपने मुँह से आग उगलने लगी। मच्छ की आँखें इससे चौंधिया गईं और वह भाग चला। मछली ने फिर अपने कलेजे में आग समेट ली। डाक्टर बीब और उनका साथी इस दृश्य को देख दग रह गये।

एक और दृश्य सामने आया। अपने आहार के लिए एक मछली ने अपनी पूँछ फैलाई। कुछ छोटी छोटी मछलियाँ बेचारी निरपराध उसमें क़ैद कर ली गईं। पर पूँछ ज्योंहीं मुँह की ओर उठी कि मछली की नाक में किसी ने सुई भोंक दी। वह तिलमिला उठी। मौक़ा पाकर छोटी-छोटी मछलियाँ निकल भागीं। ईश्वर ने इन छोटे प्राणियों को अपनी रक्षा के ही लिए सम्भवत. ये शस्त्र प्रदान किए हैं। सच में उसे छोटों का कितना ख़याल है!

इस तरह हमारे ये साहसिक यात्री नीचे की ओर धसते चले गए। सारा ख़ाका मानों उनकी आँखों में खिंचता जा रहा था। अब वे ३००० फ़ीट की गहराई में थे। उनके हाथ शीत से ठिठुर रहे थे। देखे गए आश्चर्यों का हाल लिखने के लिए क़लम हाथ में न थमती थी। चार घंटे से भी अधिक समय से वे इस लोहे के गोल कठघरे में बद थे। बैठे-बैठे उनके अग अँकड़ा उठे थे कि उन्होंने ऊपर से एक भयप्रद फुसफुसाहट सुनी। उन्होंने बार-बार जानना चाहा कि क्या सदेश है पर वे न जान सके।

अब वे ३०२८ फीट पर पहुँच चुके थे। ढोल में लपेटी रस्सी का दूसरा छोर आ पहुँचा था। इनके कौतूहल और ऊपरवालो की ख़ुशी का ठिकाना न था। इनकी और हिम्मत बढ चुकी थी, आश्चर्यों ने इनका हौसला बढा दिया था। इन्होंने और ढील देने के लिए टेलीफ़ोन किया। किन्तु सुनवाई न हुई और ये ऊपर खींच लिये गए। क़रीब साढे ग्यारह बजे ये लोग फिर अपनी दुनिया में वापस पहुँचे।

डाक्टर बीब ने सबका अभिनदन करते हुए ऊपर टेलीफ़ोन पर बैठे हुए व्यक्ति से पूछा—वह आख़िरी बार तुमने क्या फुसफुसाहट की थी जिसे तुमने मेरे ख़ास पूछने पर भी न बताया?

जवाब मिला—कुछ नहीं, ज़रा रस्सी टूट गई थी। सौभाग्य से सम्हाल ली गई।

चाप पृथ्वी की अपेक्षा केवल पाँचवाँ भाग ही होगा। वहाँ तो चावल भी न गलेगा। केवल कुनकुना गरम होते ही भाप के बुलबुले उठने लगेंगे और पानी जोर से खौलता जान पड़ेगा। वहाँ ऐसे बरतन में रसोई बनानी पड़ेगी, जिसमें से भाप निकलने का केवल एक छोटा-सा रास्ता हो और उस पर कमानीदार ढक्कन लगा हो। इस कमानी को कसकर हम भीतर का चाप जब खूब बढ़ा देंगे तब कहीं हमारी रसोई पक सकेगी। गैस-मास्क बाँधने के अतिरिक्त हमको शायद वायु-अभेद्य कपड़ा और टोप भी पहनना पड़ेगा, नहीं तो संभव है, कम वायु-चाप के कारण हमारी नसें फट जायँ। या यदि इतना न भी हुआ तो शायद हम बहरे हो जायँगे और बहुत मिचली आयेगी, जैसा अचानक ऊँचे पहाड़ों पर पहुँचाये जाने पर अक्सर होता है।

सरदी भी वहाँ बेहद पड़ती होगी, परंतु गरम कपड़े और आग के भरोसे वहाँ रहना शायद असंभव न होगा। तो भी वहाँ हमारे लिए कोई भी चित्ताकर्षक वस्तु न होगी। मंगल बिलकुल उजाड़-सा देश और अधिक स्थानों में कोरा रेगिस्तान जान पड़ेगा।

दूरदर्शक से मंगल

प्रायः सभी लोगों ने सुना होगा कि मंगल पर नहरें देखी गई हैं और इसीलिए वैज्ञानिक समझते हैं कि मंगल पर प्राणी हैं। परंतु मंगल पर नहरें देखी गई हैं या नहीं, अभी इसी बात में शक है। कुछ ज्योतिषियों को नहरें दिखलाई पड़ी हैं, कुछ को नहीं। असल बात क्या है यह समझाने के लिए आवश्यक जान पड़ता है कि दोनों ओर का बयान पाठक के सामने रख दिया जाय। परंतु विवादग्रस्त प्रश्नों पर विचार करने के पहले उन बातों का दिग्दर्शन कराना भी आवश्यक है जिनके बारे में सभी एकमत हैं। स्मरण रखना चाहिए कि निकटतम दूरी पर आ जाने पर बड़े दूरदर्शकों में भी मंगल एक रुपये से कुछ छोटा ही दिखलाई पड़ता है। अपनी अधिक चमक और हमारे वायुमंडल की चंचलता के कारण मंगल का बिंब हमें पूर्णतया स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ता। बराबर जान पड़ता है जैसे मंगल और हमारे बीच कुम्हार का आँवाँ जल रहा है और वायु बराबर नाच रही है।

शायापरेली
जिसने पहले-पहल मंगल पर रेखाओं को देखकर घोषणा की कि वहाँ पर नाले हैं।

स्पष्ट है कि ऐसी प्रतिकूल दशा में सूक्ष्म चिह्न निश्चयपूर्वक देखे नहीं जा सकते। कभी-कभी जब वायुमंडल कुछ अधिक निश्चल हो जाता है तो सूक्ष्म चिह्नों की झलक हमें मिल जाती है। हाथ से खिंचे मंगल के नक्शों में सब चिह्न वास्तव से कहीं अधिक स्पष्ट रँगे जाते हैं। यदि कहीं उन्हें अपने वास्तविक स्वरूप में हम प्रदर्शित करना चाहें तो उनको इतना फीका बनाना पड़ेगा कि वे कभी हमको दिखलाई पड़ेंगे, कभी न दिखलाई पड़ेंगे।

मंगल पर कुछ स्थूल चिह्न ऐसे भी हैं, जिनके बारे में किसी को संदेह नहीं है। मंगल का बिंब लाल दिखलाई पड़ता है और उसमें कुछ मैले हरे रंग के चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। बिंब के ऊपर के या नीचे के भाग में (कभी-कभी दोनों ओर) सफ़ेद, गोल, और खूब चमकीले चकत्ते दिखलाई पड़ते हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये मंगल के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के पास के बर्फ़ के मैदान हैं। ऋतु-अनुसार ये छोटे और बड़े भी होते रहते हैं। जिधर गरमी पड़ती रहती है उधर पिघलने के कारण बर्फ़ का मैदान छोटा होता रहता है। दूसरे आधे में उस समय सरदी का मौसम रहता है और इसलिए उधर बर्फ़ का क्षेत्रफल बढ़ता है।

पहले लोग समझते थे कि मंगल का लाल भाग जमीन है और हरा भाग पानी। परंतु दूरबीनों की शक्ति बढ़ने पर सिद्ध हुआ कि हरा भाग समुद्र नहीं है। यदि वह वस्तुतः समुद्र होता तो उसमें सूर्य का प्रतिबिंब दिखलाई पड़ता, परंतु सूर्य के प्रतिबिंब की कौन कहे, उसमें रेखाएँ भी देखी गई हैं—वे ही रेखाएँ जिन्हें कुछ ज्योतिषी नहर मानते हैं। इसके अतिरिक्त ऋतु के अनुसार इन भागों का रंग थोड़ा-बहुत बदलता भी है। लाल भाग अब रेगिस्तान माना जाता है।

क्या मंगल में नहरें हैं?

१८७७ में इटली के ज्योतिषी शायापरेली ने घोषणा की कि उसे मंगल पर नाले दिखलाई दिए हैं। नाले को इटैलियन भाषा में 'केनाली' कहते हैं और यह अंग्रेज़ी शब्द 'कैनाल' से मिलता-जुलता है। इसलिए ख़बर फैल गई कि मंगल पर नहरें देखी गई हैं। नहरों के देखे जाने
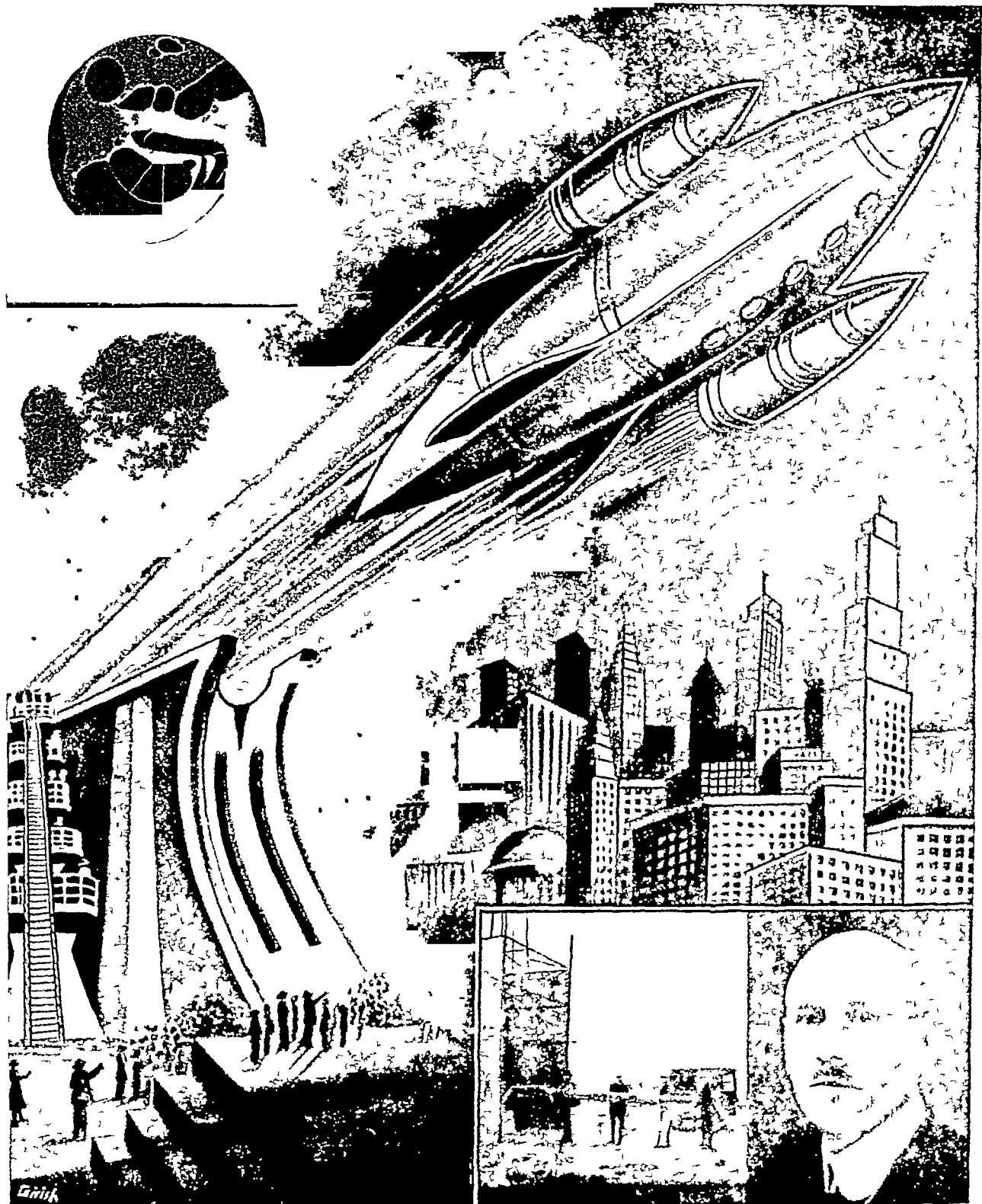
मंगल की यात्रा के स्वप्न देखे जा रहे है। इस संबंध मे अमेरिका के प्रो० गॉडर्ड सबसे अधिक प्रयत्नशील है। ये एक ऐसे राकेट-यान का निर्माण करने की कोशिश में है जो यात्रियो को लेकर भीषण गति से शून्य मे इतनी लंबी यात्रा कर सके। ऊपर के चित्र के मध्य मे सुदूर भविष्य मे ऐसा ही कोई राकेट-यान पृथ्वी से यात्रियो को लेकर किस प्रकार शून्य मे दागा जायगा, इसकी कल्पना है। ऊपर बाएँ कोने मे मंगल है जो इस बाण का लक्ष्य है। नीचे दाहिने कोने में प्रो० गॉडर्ड और उनके एक छोटे-से प्रयोगात्मक राकेट को दागने की तैयारी का चित्र है।

का सिद्धांत इस प्रकार भ्रमवश उत्पन्न हुआ, परंतु बहुत पीछे, जब लोगों ने इन रेखाओं को और अच्छी तरह देख पाया, तब कई एक की धारणा यही हुई कि जो रेखाएँ दिखलाई पड़ती हैं वे वस्तुतः कृत्रिम नहरें हैं, नाले नहीं हैं। कारण यह था कि ये रेखाएँ बहुत लंबी और बहुत सीधी दिखलाई पड़ती हैं। परंतु यह शायापरेली की घोषणा के वर्षों पीछे की बात है। जब शायापरेली ने इनके देखने की सूचना पहले पहल अन्य ज्योतिषियों को दी तो वे इनको नहीं देख पाये। शायापरेली का दूरदर्शक छोटा—कुल नौ इंच व्यास का—था। दूसरे ज्योतिषियों के पास इससे कहीं बड़े दूरदर्शक थे। तो भी उन को रेखाएँ नहीं दिखलाई पड़ीं। इसलिए लोगों की राय ठहरी कि शायापरेली को धोखा हो गया है। दो वर्ष बाद मंगल फिर पृथ्वी के समीप आया तब शायापरेली ने फिर मंगल की सतह की सूक्ष्म जाँच की और बतलाया कि कुछ नहरें दोहरी हैं और दूर तक एक दूसरे के समानांतर चली गई हैं। तब अन्य ज्योतिषियों को पूर्ण रूप से विश्वास हो गया कि शायापरेली को किसी कारण भ्रम होता है, क्योंकि बड़े दूरदर्शकों में दोहरी को कौन कहे, एकहरी रेखाएँ भी नहीं दिखलाई पड़तीं। यदि वस्तुतः दोहरी रेखाएँ होतीं तो दोनों मिलकर कम-से-कम एक रेखा की तरह तो अवश्य दूसरों को भी दिखलाई पड़तीं। यह प्रश्न इसी असंतोषजनक अवस्था में ग्यारह वर्ष तक पड़ा रहा। तब दूसरों ने भी और बड़े-बड़े दूरदर्शकों से थोड़ी सी रेखाएँ देखीं। इनमें से कुछ दोहरी भी दिखलाई पड़ीं। १८९२ में पिकरिंग ने देखा कि ये केवल लाल रेगिस्तानों में ही नहीं, उन साँवले भागों में भी थीं जिन्हें लोग उस समय तक समुद्र मानते थे। जहाँ रेखाएँ एक दूसरे से मिलती थीं वहाँ मैले हरे गोल धब्बे दिखलाई पड़े। यदि रेखाएँ नहरें हैं तो अवश्य उनके मिलन-बिंदु के पास हरे-भरे भूमि खंड होंगे और ये ही हमें धब्बों की तरह दिखलाई पड़ते होंगे। लॉवेल ने अनेक नई नहरों और धब्बों का पता लगाया और देखा कि नहरों का रंग ऋतु के अनुसार बदलता रहता है।

क्या मंगल की नहरों-जैसी रेखाएँ केवल हमारी आँखों का भ्रम हैं? ऊपर के चित्र में बाईं ओर बहुत-से छोटे-बड़े बिंदु और धब्बे जैसे चिह्न एक विशेष क्रम से अलग-अलग बिखरे पड़े हैं। यदि आप इस चित्र को पंद्रह क़दम की दूरी से देखें तो यह आपको क़रीब-क़रीब वैसा ही दिखाई देगा जैसा कि दाहिनी ओर के चित्र में प्रदर्शित है। जो लोग मंगल पर नहरें होना नहीं मानते, उनका यही कहना है कि वहाँ के अनेक बिखरे हुए चिह्न ही दूरी की वजह से रेखातुल्य दिखाई पाते हैं।

लॉवेल का दृढ़ विश्वास था कि मंगल पर वस्तुतः नहरें हैं। उसका सिद्धांत था कि असली नहरें वास्तव में बहुत पतली होती होंगी और हमको दिखाई नहीं पड़ती होंगी। जो कुछ हमको दिखलाई पड़ता है वह नहरों की अगल-बगल की जमीन है। यह पहले गाढ़े भूरे रंग की रहती है। जब समीपवर्ती ध्रुवप्रदेश पर गरमी की ऋतु के कारण बर्फ़ पिघलने लगता है तब पानी, या तो स्वयं, या (जैसा अधिक संभव है) पंपों द्वारा चलाये जाने पर, इन नहरों में बहता है। तब नहरों की अगल-बगल घास पात या फ़सल उग आती है और हमें यही भूमि मैले हरे रंग की दिखलाई पड़ती है। इन रेखाओं का रंग लगभग ५० मील प्रति दिन के हिसाब से बदलता चला जाता है जिससे पता चलता है कि नहरों में इसी वेग से पानी आगे को बढ़ता है। कुछ महीने

बाद रेखाओं का रंग पहले-जैसा हो जाता है, जो सूचित करता है कि घास-पात सूख गये या फ़सल तैयार हो गई। एक गोलार्द्ध में समाप्त हो जाने पर, दूसरे गोलार्द्ध में गरमी आरंभ होती है और फिर उधर से रेखाओं का रंग बदलना आरंभ होता है।

जो ज्योतिषी मंगल पर नहरों का होना नहीं मानते हैं वे कहते हैं कि अच्छे दूरदर्शक से देखने पर रेखाएँ सीधी और सँकरी नहीं जान पड़तीं। वे टूटी-फूटी, मोटी और भद्दी, अस्पष्ट और अर्वाङ्ग दिखलाई पड़ती हैं। उनका कहना है कि मंगल पर नन्हें-नन्हें बहुत-से धब्बे होंगे और जहाँ कहीं भी दो-चार बड़े धब्बे एक सीध में पड़ गये हैं वहाँ एक सीधी रेखा दिखलाई पड़ने का भ्रम होता है। इसमें संदेह नहीं कि आँखों को इस प्रकार बराबर धोखा हुआ करता है। सिनेमा-चित्र इस बात के प्रमाण हैं। सिनेमा-चित्रों में वस्तुतः एक के बाद एक असंख्य चित्र दिखलाये जाते हैं; परंतु आँखों को भ्रम यही होता है कि चलती-फिरती तसवीर दिखलाई पड़ रही है। आँखों के भ्रम होने का दूसरा उदाहरण यह है कि इस पुस्तक में जितने भी फ़ोटो की तरह दिखलाई पड़नेवाले चित्र छपे हैं वे वस्तुतः सब छोटे-बड़े बिंदुओं के समूह हैं। प्रत्येक बिंदु एकसमान काला है। हलके भागों में बिंदु एक दूसरे को छूते भी नहीं रहते। तो भी आँखों को ऐसा ही प्रतीत होता है कि मानो कालापन अटूट रीति से बदलता रहता है। कारण यह है कि एक सीमा है जिसके कि आगे हमारी आँखें देख नहीं पातीं। बहुत छोटे-छोटे बिंदु एक सीध में पास-पास हों तो वे एक दूसरे से मिले हुए ही जान पड़ते हैं। यदि आपकी आँखें तेज़ हैं और आप इन चित्रों में सर्वत्र अलग-अलग बिंदुओं को देख सकते हैं तो आप उपरोक्त बातों का समर्थन इन चित्रों को गज़ दो गज़ की दूरी से देखकर कर सकते हैं। और यदि आप पास से भी बिंदुओं को स्पष्ट नहीं देख सकते तो प्रवर्द्धक-ताल (मैगनिफ़ाइंग ग्लास) द्वारा इन चित्रों की परीक्षा करके इनके बिंदु-समूह होने का प्रमाण पा सकते हैं।

लॉवेल

जो मंगल पर नहरें मानने का सबसे बड़ा पक्षपाती था।

आँखों की इस दुर्बलता को जानते हुए और इस बात को देखते हुए कि बड़े दूरदर्शकों में नहरों के बदले अक्सर टूटी-फूटी रेखाएँ ही दिखलाई पड़ती हैं अवश्य ऐसा संदेह होता है कि बहुत संभव है, नहरों का दिखलाई पड़ना पूर्णतया भ्रम हो (दे० १०५६ पृ० का चित्र)।

लॉवेल, जो नहरों के अस्तित्व का दृढ़ पक्षपाती था, कहा करता था कि बड़े दूरदर्शकों में वे नहरें स्पष्ट इसलिए नहीं दिखलाई पड़तीं कि हमारा वायुमंडल कभी भी काफ़ी स्वच्छ और निश्चल नहीं रहता। बड़े दूरदर्शकों में केवल प्रकाश बढ़ जाता है; आकाशीय पिंड उनसे अधिक चमकीले और बड़े अवश्य दिखलाई पड़ते हैं, परंतु सूक्ष्म ब्योरा सब मिट जाता है। लॉवेल ने स्वयं अपनी वेधशाला ७००० फ़ुट की ऊँचाई पर ऐसे देश (ऐरिज़ोना) में बनवायी थी जहाँ वायु विशेष रूप से स्वच्छ रहती है। उसका यह भी कहना था कि नहरों की झलक हमें कभी-ही-कभी, जब हमारा वायुमंडल क्षण भर के लिए नीचे से ऊपर तक निश्चल हो जाता है, मिल जाती है।

शायापरेली की आँखें अवश्य असाधारण रूप से तेज़ थीं, उसने अपने ९ इंच के दूरदर्शक से नहरों को तब देखा जब किसी को इनके होने का संदेह भी नहीं था। उसके बतलाने पर लोग बड़े-बड़े दूरदर्शकों से भी केवल वर्षों बाद ही उन्हें देख पाये। लॉवेल का दूरदर्शक भी अपेक्षाकृत छोटा ही, केवल २४ इंच व्यास का, था। परंतु हो सकता है कि लॉवेल की भी आँखें असाधारण तीक्ष्ण रही हों। या संभव है, अपनी भावना के कारण उसे नहरें दिखलाई पड़ती रही हों। कुछ भी हो, हमें मानना पड़ेगा कि अभी निश्चय रूप से सिद्ध नहीं हो सका है कि मंगल पर नहरें देखी गई हैं।

फ़ोटोग्राफ़ खींचकर नहरों का रहना या न रहना देखा नहीं जा सकता, क्योंकि फ़ोटोग्राफ़ों में कभी भी उतने सूक्ष्म ब्योरे अभी तक नहीं उतर पाते, जितने आँख से देखे जा सकते हैं। आँखें वायुमंडल के क्षणभर भी स्थिर हो जाने का लाभ उठा लेती हैं।
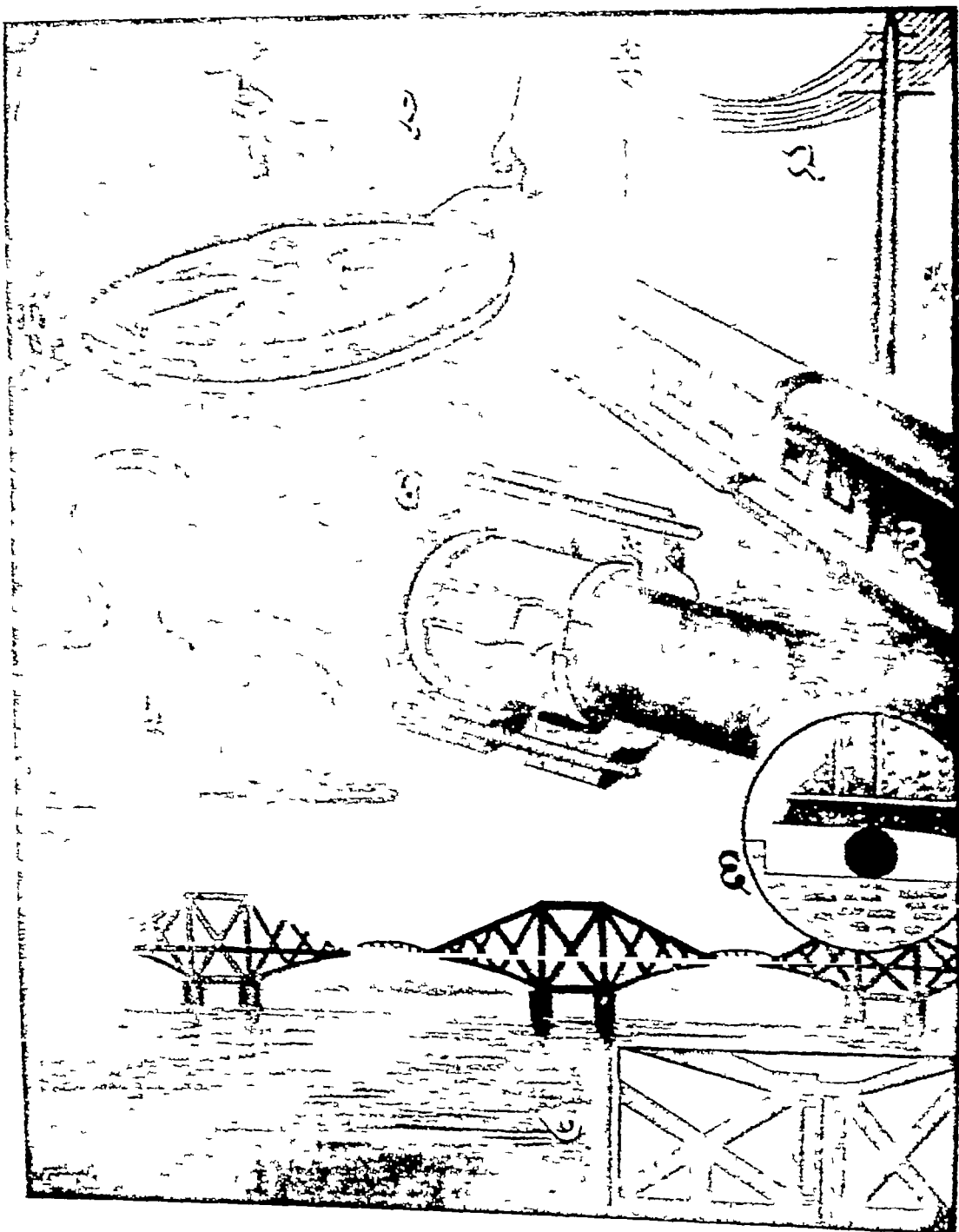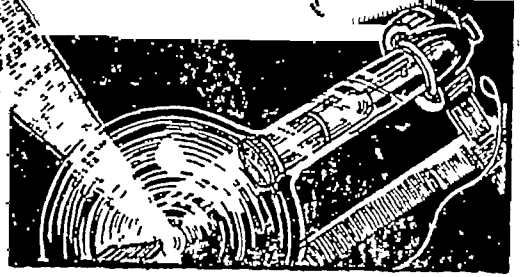
ताप के कारण प्रसार

गर्मी पाकर साधारणतः सभी वस्तुओं में प्रसार होता है। ठोस वस्तुओं की लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई तीनों ही बढ़ती हैं, अतः ठोस वस्तुओं के साथ प्रयोग करके हम वास्तव में उनकी लम्बाई का प्रसार मालूम कर सकते हैं। द्रव तथा गैस पदार्थों को गर्म करने पर उनके समूचे आयतन में एक साथ वृद्धि होती है। अतः उन की केवल लम्बाई का प्रसार नहीं निकाला जा सकता।

यद्यपि आम तौर पर हमें जान नहीं पड़ता कि गर्मी के कारण ठोस वस्तुओं में प्रसार हुआ करता है, किन्तु एक साधारण-से प्रयोग द्वारा हम इस बात का बख़ूबी प्रदर्शन कर सकते हैं। लोहे की एक लम्बी नली 'अ' 'ब' लीजिए। इस नली में 'क' पर भाप नली में प्रवेश करती है, और 'ख' पर नली से बाहर निकल जाती है। 'अ' पर यह नली लकड़ी के गिट्टे पर कस दी जाती है। 'ब' के पास एक पतली कील से टिकी हुई सरकण्डे की हल्की सुई ऊपर से लटकती है। सुई की नोक चाँद की शक्ल में स्केल के ऊपर घूमती है। भाप के प्रवेश करने पर नली गर्म होती है, अत' इसकी लम्बाई मे प्रसार होता है। 'अ' पर स्क्रू से बँधी होने के कारण नली उस ओर नहीं बढ़ सकती, अतः 'ब' की ओर नली बढ़ती है और सुई को धक्का देती है। विन्दु 'ब' पर सुई यदि ज़रा भी खिसकी, तो इसकी नोक मे काफ़ी ज्यादा हरकत होगी (देे० चित्र २ में ऊपरी बाएँ कोने का मानचित्र)।

इसके प्रतिकूल गर्म वस्तु यदि ठडी की जाय तो उसकी लम्बाई में सकुचन होता है। लोहे की सलाख को आग में लाल करके उसे लोहे के मजबूत स्टैण्ड पर रख दीजिए। उसके एक सिरे पर ऑंकुड़े में रेती डालकर दूसरे सिरे को स्टैण्ड के स्तम्भ में बोलटू द्वारा मजबूती के साथ कस दीजिए। अब इस गर्म सलाख पर ठण्डा पानी डालने पर सलाख में एकाएक सकुचन होता है, और इस सकुचन में इतना ज़ोर होता है कि रेती खटाक टूट जाती है (चि० २ में ऊपरी दाहिने कोने का चित्र)।

लुहार पहियों पर लोहे की हाल चढाता है तो वह पहिये के आकार की अपेक्षा हाल को ज़रा छोटी बनाता है। हाल आग मे तपकर जब लाल हो जाती है तो इसका आकार कुछ बढ़ जाता है और पहिये को हाल के भीतर रख देते हैं। अब ठण्डे पानी से हाल को ठण्डी करते हैं। पानी पड़ते ही हाल सिकुड़ती है और पहिये को चारों ओर से अच्छी तरह जकड़
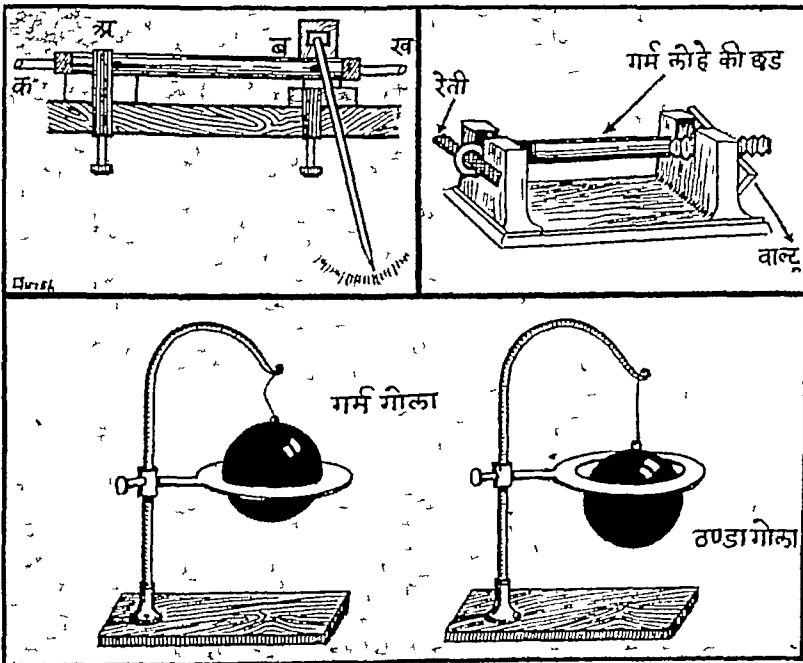
चित्र २—ठोस वस्तुओ का ताप के कारण प्रसार। धातु का गोला उतने ही व्यास के एक छल्ले में से ठंढी दशा मे तो निकलेगा, पर गर्म करने पर नहीं निकलेगा।

को स्क्रू घुमाकर ऊपर सरका देते हैं। ऋतु के अनुसार गर्मी के घटने-बढ़ने के साथ साधारण ढग के पेन्डुलम की लम्बाई में भी प्रसार अथवा सकुचन होता रहता है। लट्टू को बार-बार ऊपर-नीचे सरकाने की मुसीबत से बचने के लिए अब बढ़िया क़िस्म की दीवाल-घड़ियों के पेन्डुलम के बनाने में इस बात की सावधानी रक्खी जाती है कि तापक्रम के घटने-बढ़ने से उसकी लम्बाई में अन्तर न आए।

इस ढग के पेन्डुलम की छड़ दो विभिन्न धातुओं के संयोग से बनाते हैं। लोहे के छड़ की लम्बाई ज्यादा होती है, पीतल के छड की कम। इन दोनों की लम्बाई का अनुपात इस ढग का होता है कि लोहे का छड़ जितना नीचे को बढ़ता है, पीतलवाला छड़ उतना ही ऊपर को बढ़ता है। इस प्रकार पेन्डुलम के लट्टू की दूरी पहले सरीखी ही बनी रहती है (दे० चि० ३ नीचे का भाग)। जेबघड़ी में बाल कमानी के बार-बार खुलने बन्द होने से घड़ी के अन्य पुर्ज़ों में हरकत होती है। गर्मी के दिनों में बाल कमानी के तार की लचक मन्द पड़ जाती है, साथ ही बैलेन्स ह्वील की परिधि भी बढ़ जाती है, इस कारण कमानी पहले जैसी शीघ्रता के साथ हरकत नहीं कर पाती और घड़ी सुस्त पड़ जाती है। इस दोष को दूर करने के लिए बैलेन्स ह्वील की परिधि दुहरी धातु की बनाते हैं, भीतर लोहा रहता है और बाहर की ओर पीतल। तापक्रम बढ़ने पर जब कभी परिधि बाहर की ओर बढ़ना चाहती है तो उसके छोर भीतर की ओर मुड़ जाते हैं, क्योंकि बाहर की ओर लगी हुई पीतल में अपेक्षाकृत ज्यादा प्रसार होता है (दे० चि० ३ नीचे का भाग)।

ठोस पदार्थों की अपनी निज की लम्बाई और मुटाई हुआ करती है, अतः तापक्रम बढ़ने पर इनके प्रसार का अन्दाज़ हर एक दिशा में हम लगा सकते हैं। किन्तु द्रव पदार्थों की लम्बाई-चौड़ाई इत्यादि नियत नहीं होती, अवश्य ही किसी एक तापक्रम पर उनका आयतन नियत होता है। अतः द्रव पदार्थों के आयतन का ही प्रसार देखा जा सकता है। द्रव पदार्थों का प्रसार ठोस के प्रसार की अपेक्षा कहीं ज्यादा होता है। अतः प्रयोगों द्वारा द्रव पदार्थों का प्रसार दिखाना अधिक आसान है।

शीशे के तीन फ्लास्क एक ही साइज के लीजिए और उनमें क्रम से पानी, पारा और स्पिरिट भर दीजिए। तीनों फ्लास्क का मुँह ऐसे कार्क से बन्द कीजिए जिसमें एक पतला सूराख़ बना हो। इसी सूराख़ के रास्ते एक-एक पतली नली तीनों फ्लास्कों में लगा दीजिए। कार्क को भिन्न-भिन्न फ्लास्कों में इस तरह दबाइए कि तीनों के द्रव इस पतली नली में समान ऊँचाई तक चढ़ जाएँ। इन फ्लास्को को गर्म पानी भरे बर्तन में रख दीजिए। फ्लास्क रखते ही तीनों में द्रव पदार्थों की सतह पहले जरा-सी नीचे गिरेगी, क्योंकि द्रव तक गर्मी पहुँचने के पहले फ्लास्क गर्म होकर कुछ हद तक फैल जाता है, फिर द्रव का प्रसार आरम्भ होगा और थोड़ी देर में सभी फ्लास्कों के द्रव की सतह ऊँची चढ़ जायगी। स्पिरिट सबसे ऊँचे चढ़ेगा, पारा उससे कम और पानी सबसे कम (दे० चि० ४)। इस प्रयोग से हम दो बातें देखते हैं—एक यह कि द्रव पदार्थों का प्रसार ठोस की अपेक्षा ज्यादा होना है, और दूसरे यह कि भिन्न-भिन्न द्रवों के प्रसार की मात्रा भी भिन्न हुआ करती है। ठण्डे पानी में रखने पर उन द्रवों में सकुचन भी होगा—स्पिरिट में सबसे ज्यादा और पानी में सबसे कम।

चि० ४—द्रवों के आयतन में ताप के कारण प्रसार

इसी प्रकार गैसों में भी प्रसरण और सकुचन की क्रिया आसानी से देखी जा सकती है। शीशे का फ्लास्क लेकर उसमें नली लगी हुई कार्क लगा दीजिए। फ्लास्क में केवल साधारण हवा है। कार्क में लगी हुई पतली नली में एक बूँद लाल रग डाल दीजिए। नली में यह बूँद एक ख़ास ऊँचाई पर टिकी रहेगी। अब फ्लास्क को उठाकर उसे अपनी दोनों हथेलियों से दबाइए। हाथ की गर्मी पहुँचते ही फ्लास्क के अन्दर की हवा गर्म होकर फैलना चाहती है और इस कारण नली में रगीन पानी की बूँद फ़ौरन् ही ऊपर चढ़ने लगती है। यहाँ पर भी आरम्भ में रंग की बूँद पहले ज़रा नीचे गिरती है, क्योंकि गैस तक पहुँचने के पहले ही फ्लास्क गर्म होकर फैल जाता है। फ्लास्क पर से हथेली हटा लेने पर हवा ठण्डी होने लगती है और इसलिए रगीन बूँद भी नीचे को

गिरने लगती है। गैसों के प्रसरण का अध्ययन करने पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि भिन्न-भिन्न गैसों का प्रसरण एक-सा होता है, किन्तु ठोस और द्रव पदार्थों में यह बात नहीं पाई जाती। गैसों का प्रसरण ठोस तथा द्रव के प्रसरण की अपेक्षा बहुत ज़्यादा होता है—केवल हाथ की गर्मी पहुँचने से ही गैसों में प्रसरण काफ़ी मात्रा में हो जाता है।

इस सम्बन्ध में एक रोचक प्रयोग किया जा सकता है। पेट्रोल का एक ख़ाली टिन लेकर उसे साफ़ कर लीजिए। थोड़ा पानी उसमें डालकर स्टोव पर उसे रख दीजिए। जब पानी ख़ूब खौलने लगे, तो उस पर पेंचदार ढक्कन कस दीजिए और स्टोव को बुझाकर एकाएक ठण्डा पानी उस टिन पर डालिये। फ़ौरन ही टिन भीतर को पिचककर टूट जाता है, मानो उसे किसी ने हथौड़े की चोट से तोड़ डाला हो। आख़िर टिन टूटा क्यों? जिस वक़्त टिन पर ढक्कन लगाया गया था उस वक़्त टिन के अन्दर थोड़ा-सा पानी और उसी की भाप थी, हवा बिल्कुल न थी। ठण्डा पानी डालने से भाप ठण्डी होकर पानी बन गई, फलस्वरूप टिन के अधिकांश भाग में केवल वैकुअम बच रहा। हम जानते हैं, टिन की दीवालों पर बाहर से वायुमण्डल का प्रति वर्ग इंच पर सवा सात सेर का दबाव पड़ रहा है। चूँकि इस दबाव का प्रभाव रोकनेवाली हवा या भाप टिन के अन्दर अब नहीं रही, इसीलिए टिन भारी दबाव के ज़ोर से पिचककर टूट गया। मुरब्बे की टिन बन्द करते समय जब शीरा गर्म रहता है, तभी ढक्कन बन्द करते हैं। ठण्डा होने पर भीतर की भाप का दबाव बाहरी हवा के दबाव की अपेक्षा कम हो जाता है और इसी कारण टिन का ऊपरी पर्दा नीचे को लच जाता है।

चि० ५—सागर में बर्फ़ की तह के नीचे जलजीवों का रहना

अन्य द्रवों के मुक़ाबले में पानी में एक ख़ास गुण यह है कि यदि गर्म पानी को हम निरन्तर ठण्डा करने चलें तो पहले तो अन्य द्रवों की भाँति पानी में भी संकुचन होगा और जब ठण्डा करते-करते हम ४ डिग्री सेन्टीग्रेड तापक्रम पर पहुँच गये तो इसके आगे पानी को और ठण्डा करने पर साधारण नियम के अनुसार संकुचन नहीं, बल्कि पानी के आयतन में प्रसरण होने लगेगा। शून्य डिग्री पर पहुँचने के बाद जब पानी बर्फ़ बनकर ठोस रूप अख़्तियार कर लेता है, तब भी यह प्रसरण क्रिया जारी रहती है। प्रयोग करके देखा गया है कि ९ घन सेन्टीमीटर पानी बर्फ़ में परिवर्तित होने पर आयतन में १० घन सेन्टीमीटर हो जाता है। इसी कारण बर्फ़ का घनत्व पानी के घनत्व से कम होता है और वह पानी पर तैरती रहती है। पानी में यदि यह विशेषता न होती तो शीतप्रधान देशों की झीलों में एक भी मछली जीती न बचती। जाड़े में तापक्रम कम होने पर संकुचन होता है और ऊपर का पानी भारी होकर नीचे पेंदे में चला जाता तथा नीचे का पानी ऊपर चला आता है। यह सिलसिला उस वक़्त तक जारी रहता है, जब तक सतह का पानी ४ डिग्री सेन्टीग्रेड तापक्रम पर नहीं आ जाता। इसके बाद सतह के पानी का तापक्रम जब ३ डिग्री पर पहुँचता है तो इसमें पुनः प्रसार होने लगता है, और इसका घनत्व कम होने लगता है, अतः अब यह पानी नीचे को न जायगा। इसी प्रकार पानी धीरे-धीरे ठण्डा होकर बर्फ़ बन जाता है। बर्फ़ की इस तह के नीचे पानी द्रव रूप में बना रहता है, जिसमें मछलियाँ आदि जलचर स्वच्छन्दतापूर्वक घूमते रहते हैं (दे० चि० ५)।

जीवन का पोषक—नाइट्रोजन मूलतत्त्व

हमारे प्रायः सभी पाठकों को यह मालूम होगा कि वनस्पतियों और प्राणियों के कलेवर सूक्ष्म जीवित कोष्ठों के बने होते हैं। इन कोष्ठों में एक तरल जीवित पदार्थ भरा रहता है जिसे प्रोटोप्लाज्म अथवा जीवनरस कहते हैं। जीवन-सम्बन्धी सारी क्रियाओं का आधार यही प्रोटोप्लाज्म होता है, और इसी में होती हुई रासायनिक प्रतिक्रियाओं द्वारा जीवन का सचालन हुआ करता है। इस प्रोटोप्लाज्म में पानी में घुले या मिले हुए कुछ विशेष आवश्यक पदार्थ रहते हैं जिनमें प्रधानतः 'प्रोटीन' नामक कार्बनिक यौगिक होते हैं। इन प्रोटीनों में कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन और नाइट्रोजन मूलतत्त्व तो अवश्य ही और बहुधा गधक और फ़ास्फोरस भी रहते हैं। जीवित शरीरों का घटना-बढ़ना प्रोटोप्लाज्ममय जीवित कोष्ठों की ही सख्या के घटने-बढ़ने पर निर्भर रहता है। वनस्पति अपने कलेवर के लिए आवश्यक कार्बन वायु-मिश्रित कार्बन-डाइऑक्साइड से अपनी छिद्रमय पत्तियों द्वारा साँस लेकर तथा हाइड्रोजन और ऑक्सिजन जड़ों द्वारा पानी को खींचकर लिया करते हैं। इस कार्बन और इन पानी के मूलतत्त्वों को विभिन्न यौगिकों में संयुक्त करने के लिए वे सूर्य-रश्मियों की शक्ति तथा पत्तियों के हरे पदार्थ 'क्लोरोफ़िल' नामक रासायनिक यत्र का उपयोग किया करते हैं। लेकिन चौथा आवश्यक मूलतत्व नाइट्रोजन इतनी सरलता से वनस्पतियों को प्राप्त नहीं होता। नाइट्रोजनमय वायुमण्डल में डूबे रहते हुए भी वनस्पति इस मूलतत्त्व का एक परमाणु भी सीधे वायुमडल से नहीं ग्रहण कर सकते! इस बात ने अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक डॉ० स्लॉसन को अँग्रेज़ी कवि कॉलरिज के उस महासागर की याद दिलाई है जिसमें—

Water, water everywhere
Nor any drop to drink

अर्थात्, जहाँ देखिए जल-ही-जल है पर पीने को बूँद नहीं!

फिर भी नाइट्रोजन के बिना प्रोटोप्लाज्म का निर्माण अर्थात् जीवन का अस्तित्व ही सभव नहीं। अतएव प्रकृति में इस आलसी किन्तु आवश्यक मूलतत्त्व को फाँसने का विशेष प्रबन्ध रहता है।

खाद्य नाइट्रोजन के बिना पौधो का बढ़ना संभव नहीं बाएँ पात्र में ऐसा घोल भरा हुआ है जिसमें पौधों के लिए सभी आवश्यक मूलतत्त्व लवणों के रूप में उपस्थित हैं। दाहिने पात्र में नाइट्रोजनयुक्त लवणों की अनुपस्थिति है। ये दोनों पौधे एक ही साथ बोये और लवण-घोलों में रक्खे गए थे। नाइट्रोजन के अभाव में दूसरे पौधे की बाढ़ रुक गई है।

गत अध्याय में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार वायुमडल की नाइट्रोजन से बिजली और वर्षा द्वारा प्रतिदिन लाखों टन नाइट्रिक ऐसिड बनकर भूमि पर उतरा करती है और मिट्टी में नाइट्रेटों का उत्पादन किया करती है। ये नाइट्रेट वनस्पतियों के लिए सर्वोत्तम

खाद्य पदार्थ होते हैं। उनके घोल को वे जड़ों द्वारा
शोषित करते और उनकी नाइट्रोजन से रासायनिक
क्रियाओं द्वारा प्रोटीनों का निर्माण करते रहते हैं। किंतु
इतने ही नाइट्रेट सारे वनस्पतिवर्ग के लिए पर्याप्त नहीं
हो सकते, अतएव प्रकृति ने नाइट्रेटों के निर्माण के लिए
आश्चर्यजनक कारखाने खोल रक्खे हैं। दुर्भाग्यवश हम
उन्हें देख नहीं सकते—हम वास्तव में उनके लिए अंधों
के समान हैं। ये कारखाने प्रकृति में निरंतर, बिना किसी
अवकाश या छुट्टी के, चला करते हैं, और इनमें इतने
मजदूर काम करते हैं कि उनकी संख्या का अनुमान मानव
बुद्धि के नितांत परे है। बोने के लिए तैयार होते हुए
खेत की चावल भर ही मिट्टी में दो चार लाख मजदूर तो
अवश्य ही रहते हैं, फिर सारे खेत में अथवा सारी पृथ्वी
पर ऐसे मजदूर कितने रहते हैं, इसका हिसाब लगाना
मूर्खता और पागलपन नहीं तो क्या? इन्हीं मजदूरों को
हम कीटाणु कहते हैं। ये इतने छोटे होते हैं कि हम उन्हें
बिना तेज़ सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देख नहीं सकते। ये
एक ही प्रकार के नहीं होते। विभिन्न कीटाणुओं
में अपने-अपने स्वभाव के अनुसार प्रकृति ने बहुत ही
खूबी के साथ श्रम का विभाजन कर रक्खा है। इनमें से
एक प्रकार के कीटाणु, जैसा कि हम पिछले लेख में बता
चुके हैं, मटर, चना, अलफाल्फा, आदि की जड़ों की
गुत्थियों में रहते हैं, और इन्हीं गुत्थियों में इनके कार्या-
लय निरंतर चला करते हैं। ये कीटाणु इतने जबरदस्त
होते हैं कि उनके चुंगल में हवा की स्वतंत्र नाइट्रोजन को
फँसना ही पड़ता है। अपनी जीवन-क्रियाओं द्वारा वे उसे
संयुक्त रूप में लाकर पौधों के लिए नाइट्रोजनयुक्त खाद्य
तैयार किया करते हैं। जो कार्य प्रकृति की जीवहीन
भौतिक शक्तियाँ बादल, बिजली और वर्षा के भीषण रूप
में प्रकट होकर किया करती हैं और फिर भी सारे वनस्पति
जगत् की भूख दूर करने में सफल नहीं होतीं, वही कार्य
ये कीटाणु चुपचाप, बग़ैर किसी दिखावे के, बाएँ हाथ के
खेल की तरह कर डालते हैं।

एक दूसरे प्रकार के कीटाणु मृत जीव-पदार्थों का ठेका
लिये रहते हैं। वनस्पति अथवा प्राणी अथवा उनका
कोई अंग जैसे ही जीव-शून्य होता है वैसे ही ये कीटाणु
उस पर अपना कार्य शुरू कर देते हैं। वे मृत पदार्थों को
ऐसे सरलतर यौगिकों में तोड़ने लगते हैं जिनसे सजीव
कलेवरों का फिर से निर्माण हो सके। इसी विच्छेदन को
हम लोग 'सड़ना' कहते हैं। अतएव यह सड़ने की क्रिया
संहारात्मक नहीं, निर्माणात्मक ही होती है। खँडहरों को
तोड़कर वे महलों की नींव डालते हैं। इस 'तोड़ने' की
क्रिया में जीव-पदार्थों की प्रोटीन की नाइट्रोजन अमोनिया
नामक सरलतर यौगिक के रूप में निकल आती है और
यह अमोनिया पानी और कार्बन-डाइऑक्साइड गैस
से संयुक्त होकर अमोनियम कार्बोनेट नामक लवण में
परिवर्तित हो जाता है। इस अमोनियम कार्बोनेट
का ठेका अब एक दूसरे प्रकार के मज़दूर ले लेते
हैं, जिन्हें 'नाइट्राइट कीटाणु' कहते हैं, क्योंकि ये
कीटाणु अमोनियम कार्बोनेट को नाइट्राइट नामक
लवणों में बदलते रहते हैं। ये नाइट्राइट एक अन्य
प्रकार के कीटाणुओं द्वारा आक्सीकरण से नाइट्रेटों में
परिणत होते रहते हैं। इन कीटाणुओं को नाइट्रो-कीटाणु
कहते हैं। इन्हीं नाइट्रेटों का घोल जड़ों द्वारा शोषित
होकर पौधों के कलेवर में पहुँचता रहता है और उसके
प्रोटीन की नाइट्रोजन की पूर्ति किया करता है।

इस प्रकार एक अद्भुत सहयोग और अथक परिश्रम
के साथ ये कीटाणु नाइट्रेटों का निर्माण किया करते हैं।
जीवित रहते हुए वे अपना काम बन्द नहीं करते। यदि
कीटाणुओं द्वारा प्रकृति में ये कारखाने न चलें तो प्रायः
सारे वनस्पति-जगत् का अस्तित्व ही असम्भव हो जाय,
और वनस्पतियों पर बसर करनेवाले जानवर और मनुष्य
भूखों मर जायँ। मनुष्य शायद ही कभी सोचता है कि
वह अपने इन सूक्ष्म कीटाणु-रक्षकों का कितना ऋणी
है। वह अपने गर्व में इस तथ्य को बहुधा भूले रहता
है कि प्रकृति में महान् सूक्ष्म पर ही टिका हुआ है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि नाइट्रोजन वनस्पतियों के
लिए किस प्रकार आवश्यक होता है। और नाइट्रेटों
के पेड़-पौधों का बढ़ना, पल्लवित होना, अथवा फलना-
फूलना असम्भव होती है। केवल पेड़-पौधों के ही लिए नहीं,
प्राणियों के जीवन के लिए भी नाइट्रोजन उतनी ही आव-
श्यक होती है। प्राणियों का शरीर भी नए-नए कोष्ठों के
बनने रहने ही से बढ़ता है, और इन कोष्ठों के बनने के
लिए शरीर में प्रोटीनों का बनना आवश्यक है। इसके
अतिरिक्त प्राणी चलते-फिरते, खेलते-कूदते और काम
करते रहते हैं और उसके लिए शक्ति उन्हें कोष्ठों और
उनके प्रोटोप्लाज्म के ऑक्सीकरण द्वारा मिलती है। प्राणी
श्वास द्वारा हवा को फेफड़ों में खींचकर निरन्तर अपने
रक्त में ऑक्सिजन शोषित किया करते हैं, और यह
ऑक्सिजन रक्त-संचार द्वारा कोष्ठों तक पहुँचती रहती है।

नाइट्रोजन-चक्र जो प्रकृति मे निरतर चला करता है

अतरिक्ष में बिजली द्वारा और मिट्टी में जड़ों की गुत्थियों पर रहनेवाले कीटाणुओं द्वारा सयुक्तावस्था में आकर नाइट्रोजन नाइट्रेटों के रूप में मिट्टी में मिलती रहती है। नाइट्रेटों को शोषित करके पेड़ पौधे अपने कलेवरों की प्रोटीन का निर्माण करते हैं और वनस्पति-प्रोटीनों अथवा उनसे वने हुए मास-प्रोटीन को खाकर जानवर और मनुष्य अपनी प्रोटीनों को बनाते रहते हैं। पेड़ पौधों, जानवरों और मनुष्यों के अवशेषों से कीटाणुओं द्वारा कुछ नाइट्रोजन फिर नाइट्रेटों के रूप में परिवर्तित होकर मिट्टी में मिल जाती है और बाकी नाइट्रेट-नाशक कीटाणुओं द्वारा स्वतत्र होकर फिर वायुमडल में लौट जाती है।

जब हम अपनी किसी भी मासपेशी द्वारा कोई कार्य करते हैं तो शक्ति का व्यय होता है और यह शक्ति उस मास-पेशी को अपने कोष्ठों के ऑक्सीकरण द्वारा ही प्राप्त होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे मशीन को अपनी शक्ति ब्वॉयलर में होते हुए कोयले के ऑक्सीकरण द्वारा मिलती है। ऑक्सीकरण में जिस ताप का उत्पादन होता है वही शक्ति में परिणत होता रहता है। इस प्रकार शरीर को जितनी शक्ति नए कोष्ठों के निर्माण में, कार्य करने में तथा अपने

सहयोग देता और फिर विच्छेदन द्वारा स्वतंत्र होकर वायुमंडल में लौटता रहता है। नाइट्रोजन के इस परिभ्रमण को नाइट्रोजन-चक्र कहते हैं। यह चक्र प्रकृति में निरंतर परिचालित रहता है, और वास्तव में यह संसार के जीवन-मरण के चक्र का ही एक रूप है। रसायन के जगत्प्रसिद्ध ग्रंथकार डा० मेलर ने नाइट्रोजन के इस परिभ्रमण का वर्णन बड़े ही मनोरंजक ढंग से किया है—

"Today a nitrogen atom may be throbbing in the cells of the meadow grass, tomorrow it may be pulsating through the tissues of a living animal The nitrogen atom afterwards may rise from decaying animal refuse, and stream to the upper regions of the atmosphere where it may be yoked with oxygen in a flash of lightning and return as plant food to the soil in a torrent of rain, or it may be directly absorbed from the atmosphere by the soil, and there rendered available for plant food by the action of symbiotic bacteria Thus each nitrogen atom has doubtless undergone a neverceasing cycle of changes through countless aeons of time"

अर्थात्—"आज नाइट्रोजन का कोई परमाणु घास के कोठों में स्फुरित हो सकता है, कल वही किसी जीवित प्राणी के तन्तुओं में स्पंदित हो सकता है। इसके बाद वही नाइट्रोजन का परमाणु प्राणियों के सड़ते हुए अवशेषों से उठकर उड़ता हुआ वायुमंडल के ऊपरी प्रदेशों में पहुँच सकता है; वहाँ तड़ित् की एक दीप्ति के द्वारा ऑक्सिजन के साथ जुड़कर वर्षा-जल के साथ वनस्पति भोजन के रूप में फिर मिट्टी में लौट सकता है। या, वह वायुमंडल से सीधे मिट्टी में शोषित हो सकता है और वहाँ जड़ों की गुत्थियों पर रहनेवाले कीटाणुओं की क्रिया द्वारा पेड़-पौधों के लिए भोजन में परिवर्तित हो सकता है। इस प्रकार नाइट्रोजन के प्रत्येक परमाणु ने निस्संदेह न जाने कितने दीर्घकाल तक एक अविरत परिवर्तन-चक्र में अगणित फेरियाँ लगाई हैं।"

इस प्रकार जो नाइट्रोजन बिजली अथवा कीटाणुओं द्वारा संयुक्त होकर नाइट्रेटों के रूप में आती रहती है, वह प्रायः वन्य वनस्पतियों के लिए पर्याप्त होती है। मनुष्य पहले वनों से ही अपना सारा भोजन ढूँढ़ लिया करता
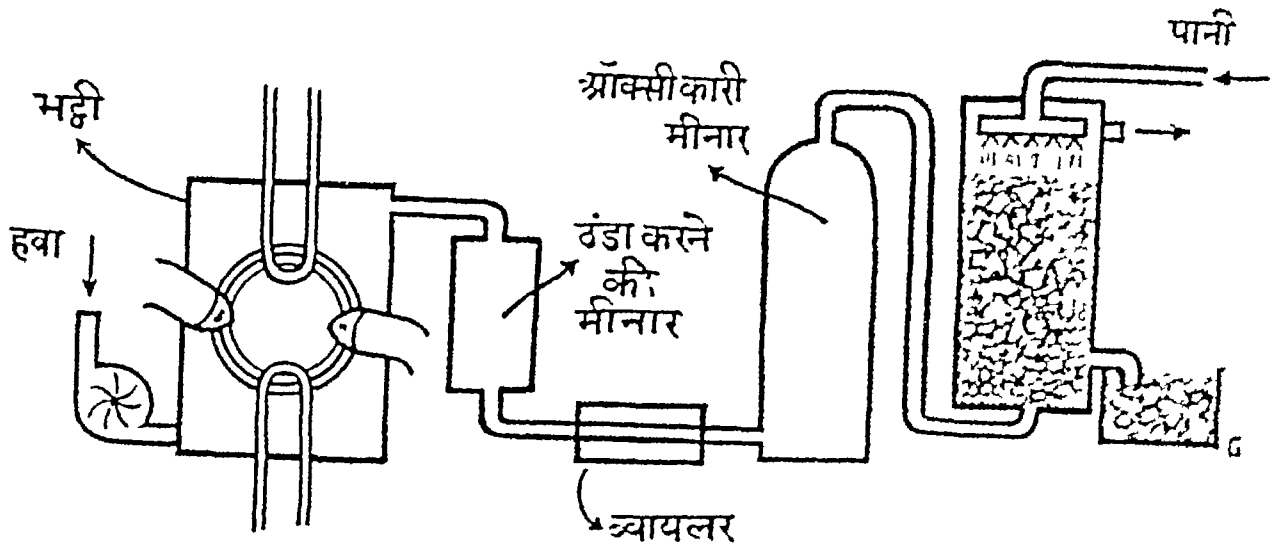
नाइट्रोजन को संयुक्त रूप में लानेवाली बर्कलैण्ड और आइड की विधि

नाइट्रोजन को नाइट्रिक ऐसिड के परिवर्तित रूप में स्थिर कर देनेवाली जो प्रक्रिया प्रकृति में बिजली और वर्षा द्वारा होती है, वही बर्कलैण्ड और आइड की इस कृत्रिम विधि में भी होती है। भट्ठी में बिजली की चिनगारी रहती है, ऑक्सीकारी मीनार में नाइट्रिक ऑक्साइड नाइट्रोजन पराक्साइड में परिवर्तित होता है, और कृत्रिम मीनार में अवशोषित होती रहती है। इसमें नाइट्रिक ऐसिड का घोल निकलकर बाहर आता रहता है। जैसे प्राकृतिक विधि में पृथ्वी पर उतरकर नाइट्रिक ऐसिड नाइट्रेटों में बदल जाता है, वैसे इस कृत्रिम विधि में नाइट्रिक ऐसिड चूने के पत्थर (कैल्शियम कार्बोनेट) के संसर्ग में लाया जाता है, जिससे 'कैल्शियम नाइट्रेट' नामक महत्त्वपूर्ण उर्वरक-खाद बन जाता है। विशेष विवरण के लिए लेख का भंडार देखिए।

था। लेकिन जब मनुष्यों की जन-संख्या बढ़ने लगी तो उन्हें अपने लिए भोजन प्राप्त करने के लिए अन्न की फ़सलों को पैदा करने की आवश्यकता पड़ी। किंतु एक ही स्थल में बिना खाद मिलाए बार-बार फसलें नहीं पैदा हो सकता, अतएव मनुष्य ने पॉस डालकर भूमि को उप-जाऊ बनाना सीखा। इधर विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ जब मनुष्य की जनसंख्या भी अत्यधिक बढ़ी तो पॉस द्वारा भी आवश्यक परिमाण में अन्न का उपजाना कठिन हो गया, अतएव मनुष्य धरती की उपज बढ़ाने की फ़िक्र में लग गया। लगभग डेढ़ सौ वर्ष हुए मनुष्य का ध्यान दक्षिणी अमेरिका के वृष्टिहीन पश्चिमी तटों से कुछ दूर पर स्थित चिञ्चा द्वीपों की ओर आकर्षित हुआ। इन द्वीपों में न जाने कितनी शताब्दियों तक करोड़ों पेङ्गुइन और पेलिकन नामक पक्षियों ने रहकर अपने मृतावशेषों तथा मल को त्यागा था, जिससे उनकी भूमि पर १२० फ़ीट गहरी "ग्वानो" की तह जम गई थी। वृष्टि के अभाव से ग्वानो घुलकर बह न सका और वहीं-का-वहीं रह गया। जब यह मालूम हुआ कि यह ग्वानो वनस्पतियों के लिए अत्युत्तम भोजन है और उन्हें आवश्यक नाइट्रोजन प्रदान कर सकता है तो उन द्वीपों के किनारे उसे लाद ले जाने के लिए देश-विदेशों के जहाज़ों का तॉता लग गया। करोड़ों रुपये का ग्वानो वहाँ से बाहर भेजा जाने लगा और शीघ्र ही वह सब-की-सब १२० फ़ीट मोटी तह देश विदेशों के खेतों में छितरा डाली गई। सन् १८०९ में फिर वनस्पति-भोजन का एक बहुत बड़ा प्रकृति-निर्मित भाण्डार मनुष्य के हाथ लगा। इसकी खोज इसी वर्ष टैडियो हीङ्के नामक एक जर्मन व्यक्ति ने की। यह भाण्डार दक्षिणी अमेरिका के वृष्टिहीन पश्चिमी तटों पर पेरू और चिली देशों के भू-गर्भ में स्थित है। धरती के कुछ ही फ़ीट की गहराई पर इसका लगभग पाँच फ़ीट मोटा स्तर चौड़ाई में दो मील और लंबाई में २०० मील तक फैला हुआ है। इस बृहत् भाण्डार में जो श्वेत पदार्थ भरा हुआ है उसे उन देशों के निवासी कैलिचे (Caliche) कहते हैं। कैलिचे में लग-भग बीस से पचास प्रतिशत तक सोडियम नाइट्रेट अथवा चिलियन शोरा रहता है। ऐसा विचार किया जाता है कि ग्वानो से ही रासायनिक परिवर्त्तन द्वारा यह शोरा बना है। देश के शुष्क और वृष्टिविहीन होने के कारण न वह घुलकर बह ही सका और न नाइट्रेटनाशक कीटाणु ही उसे विच्छेदित करने के लिए पनप सके। अतएव वह शोरा वहीं-का-वहीं जमा हुआ रह गया। इस शोरे के स्तर पर पहले पेरू देश का अधिकार था। लेकिन चिली ने उससे लड़कर सन् १८६१ में उसे ले लिया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम पचीस वर्षों में ही इस खाद का व्यापक प्रचार हो सका, अतएव उसके विक्रय से चिली देश ही फ़ायदा उठा सका। कैलिचे से शोरा निकालने के लिए पहले उसके स्तर को विस्फोटकों द्वारा तोड़ते हैं, फिर उसके टुकड़ों से शोरा पानी द्वारा घोलकर निकाल लेते हैं। उस घोल को सुखाने से सोडियम नाइ-ट्रेट (शोरा) रवों के रूप में पृथक् हो जाता है। शुरू से अब तक लगभग ६ करोड़ टन चिलियन शोरा इस भाण्डार से निकाला जा चुका है, और इसका निर्यात बराबर बढ़ता ही रहा है। हाल ही में इसका निर्यात ३० लाख टन प्रति वर्ष तक पहुँच चुका है। इस नाइ-ट्रोजनयुक्त खाद के द्वारा अनेक देशों के खेतों की उपज कई गुनी बढ़ गई। जर्मनी चिलियन शोरे का सबसे बड़ा ग्राहक था। इसीलिए जर्मनी की पैदावार अन्य देशों से अधिक होती थी। सन् १९१३ में प्रति एकड़ संयुक्त राज्य अमेरिका में १५ बुशेल, फ्रांस में २० बुशेल, ब्रिटेन में ३२ बुशेल और जर्मनी में ३५ बुशेल गेहूँ पैदा हुए। इन देशों के साथ भारतवर्ष का उल्लेख करना व्यर्थ है। यहाँ अभी रासायनिक खादों के उपयोग के युग का प्रारम्भ ही नहीं हुआ है, और न वैज्ञानिक ढंग से खेती ही होती है। अतएव हमारी औसत उपज पश्चिमी देशों की अपेक्षा बहुत कम है।

लेकिन चतुर दूरदेशी मनुष्य यह विचार किए बिना न रह सका कि चिलियन शोरे का भाण्डार अपरिमित नहीं है, जिस दिन चिलियन मरुस्थल का यह स्तर समाप्त हुआ उसी दिन बढ़ी हुई जनसंख्या को भूख का सामना करना पड़ेगा। इस विचार से वह विस्मित हो उठा। सारे कैलिशे के क्षेत्र की नाप लेकर यह कहा गया कि उससे लगभग २८ करोड़ टन तक शोरा निकाला जा सकता है। भविष्य में चिलियन शोरे के उपयोग का अनु-मान करके संयुक्त राज्य अमेरिका के कृषिविभाग ने यह सम्मति दी कि वह कुछ ही वर्षों में समाप्त हो जायगा, लेकिन चिलियन नाइट्रेट क्षेत्र के इंस्पेक्टर-जनरल की यह राय हुई कि वह कम से-कम दो सौ वर्षों तक तो अवश्य ही चलेगा। कुछ भी हो, यह बात तो स्पष्ट ही थी कि यह खाद बहुत लम्बे काल तक नहीं चल सकती। इधर पत्थर के कोयले से कोल-गैस बनाने की विधि में कुछ

अमोनिया का भी उत्पादन हुआ और उस अमोनिया से 'अमोनियम सल्फेट' नामक रासायनिक खाद बनाई जाने लगी। लेकिन एक टन कोयले से केवल ७ पौंड के लगभग अमोनियम सल्फेट निकल सका। अतः जितनी खाद इस रीति से बनाई जा सकती थी वह संसार की आवश्यकताओं को देखते हुए उपेक्षणीय थी। अतएव मानवता के चतुर प्रतिनिधि भविष्य के लिए फिर चिंतित हो गए। सन् १८९८ ई० में प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर विलियम क्रुक्स ने संसार के गेहूँ खानेवालों को एक गंभीर चेतावनी दी और कहा कि सन् १९३१ तक गेहूँ खानेवालों को भरपेट गेहूँ का अन्न न मिल सकेगा, अतएव उनको इस बात की अभी से फिक्र करनी चाहिए। बात यह है कि गेहूँ की फसल के लिए नाइट्रोजनयुक्त खाद बहुत आवश्यक है। चिली की इसी खाद के उपयोग से अनेक देशों में गेहूँ की उपज कई गुनी बढ़ गई थी, अतएव चिलियन नाइट्रेट के समाप्त होने पर सबसे बड़ा धक्का गेहूँ की उपज पर ही बैठता। विलियम क्रुक्स की चेतावनी ने एक सनसनी सी पैदा कर दी, लेकिन बहुतों ने उसकी हँसी भी उड़ाई। उसके शब्दों में चाहे अतिशयोक्ति भले ही रही हो, किन्तु उसके विचार थे सत्य पर अवलम्बित! अतएव वैज्ञानिकों के सामने यह बात एक महान् समस्या के रूप में आ खड़ी हुई। अब तक विज्ञान काफ़ी व्यवस्थित और उन्नत अवस्था में पहुँच चुका था।

नाइट्रोजन के एक अपरिमित भांडार—वायुमण्डल—से घिरे रहते हुए भी नाइट्रोजनयुक्त रासायनिक खादों का अभाव वैज्ञानिकों को खला। धरती के एक वर्गगज़ के ऊपर टिकी हुई हवा की स्वतन्त्र नाइट्रोजन यदि संयुक्त दशा में लाई जा सके तो लगभग ७०,०००) की रासायनिक खाद तैयार हो! वे उपाय ढूँढ़ने में लग गए। प्रयोग पर प्रयोग होने लगे और आश्चर्य कि धीरे-धीरे उनकी बुद्धि में उसी विधि का वामन रूप में विकास हुआ जो विराट् रूप में प्रकृति में बिजली और वर्षा द्वारा नाइट्रेटों का निर्माण किया करती है। पहले-पहल सन् १९०५ में बर्कलैण्ड और आइड नामक नार्वे-निवासियों ने इस विधि का सफलतापूर्वक उपयोग करके एक महान् उद्योग की नींव डाली। बर्कलैण्ड और आइड की विधि में एक भट्टी में बिजली का एक धधकता हुआ मंडल फैला रहता है। इस मंडल में चकाचौंध करनेवाला प्रकाश रहता है, और इसको बिजली का सूर्य कहा जाता है। इसके उत्पादन के लिए दो U रूप में झुकी हुई ताँबे की नलियों के बीच में एक ऊँचे वोल्टेज पर बिजली की चिनगारियाँ गुजारी जाती हैं जो विद्युत्-चाप (electric arc) का रूप ले लेती हैं। ताँबे की नलियों में ठंढा पानी बहता रहता है जिससे ताँबा गल न सके। इस चाप पर एक प्रबल विद्युत् चुंबक का प्रभाव डाला जाता है जिससे वह फैलकर चपटा और गोल थाल-सा हो जाता है। इसका व्यास लगभग सात फीट होता है और तापक्रम लगभग ३५००° C। जब हवा धौंकनी द्वारा इस विद्युत् मंडल में होकर प्रवाहित की जाती है तो बिजली और गर्मी की चपेट द्वारा नाइट्रोजन और ऑक्सीजन के अणु टूटकर परमाणुओं में

डॉ० एफ० हेबर

Girish

जर्मनी के डा० फ्रिट्ज हेबर ने हवा की नाइट्रोजन से अमोनिया बनाने की ऐसी सुगम और सस्ती रीति का आविष्कार किया, जिससे संसार की नाइट्रोजन युक्त रासायनिक खादों की समस्या हमेशा के लिए हल हो गई। कहा जाता है कि जर्मनी ने अपनी १९१४ की लड़ाई हेबर की विधि के सहारे लड़ी थी। अपने वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा हेबर ने न सिर्फ अपने देश ही की वरन् सारे संसार की अपूर्व सेवा की है।

बदल जाते हैं। लेकिन प्रभाव के हटते ही फिर वे परमाणु अणु रूप में आ जाते हैं। लेकिन इस गड़बड़ी में कुछ नाइट्रोजन और ऑक्सीजन के परमाणु एक दूसरे से संयुक्त होकर नाइट्रिक ऑक्साइड गैस के अणुओं में भी बदल जाते हैं। बिजली की भट्टी से निकलती हुई हवा में लगभग डेढ़ प्रतिशत नाइट्रिक ऑक्साइड मिली रहती है। यह हवा अब शीघ्र ही ६००°C तक ठंडी कर ली जाती है, कारण इस तापक्रम के ऊपर नाइट्रिक ऑक्साइड का मूलतत्त्वों में पुन. विच्छेदन संभव रहता है। इस हवा को अब नलियों द्वारा ब्वॉयलरों के पानी के भीतर प्रवाहित करते हैं। इस गर्मी से ब्वॉयलरों में बनी हुई भाप बाद में नाइट्रेटों के घोल को सुखाने के काम में लाई जाती है। इस प्रकार १५०°C तक ठंडी होकर गैसें ऑक्सीकारी मीनारों में प्रविष्ट होती हैं, और वहाँ नाइट्रिक ऑक्साइड कुछ और ऑक्सिजन से संयुक्त होकर नाइट्रोजन-परॉक्साइड में बदल जाती है। ये गैसें अब पाँच शोषण मीनारों में प्रविष्ट होती हैं, जहाँ टपकते हुए पानी और ऑक्सीजन के संयोग से नाइट्रोजन परॉक्साइड नाइट्रिक ऐसिड में बदल जाता है। इस नाइट्रिक ऐसिड को चूने के पत्थर के संसर्ग में लाकर कैल्शियम नाइट्रेट नामक लवण-खाद बना लिया जाता है। कैल्शियम नाइट्रेट के घोल के वाष्पीकरण के लिए ब्वॉयलरों में उत्पादित भाप काम में लाई जाती है। इस विधि में जो रासायनिक क्रियाएँ होती हैं, हूबहू वही प्रकृति के अंतरिक्ष में भी हुआ करती हैं। गत लेख में हम इन रासायनिक क्रियाओं का उल्लेख कर चुके हैं। यह स्पष्ट है कि यह विधि उन्हीं देशों में काम में लाई जा सकती है जहाँ बिजली बहुत ही सस्ती हो। नार्वे में जलप्रपातों का बाहुल्य है और बिजली का उत्पादन अति सरल, अतएव वहाँ निरन्तर लगभग पाँच लाख अश्वशक्ति का उपयोग नाइट्रोजन के स्थिरकरण में हुआ करता है। नार्वे प्रति वर्ष लगभग

हेबर की विधि द्वारा हवा की नाइ-
कोयला, हवा, पानी और लोहा जैसी सस्ती वस्तुओं के उपयोग से हेबर हवा की नाइट्रोजन को अमोनिया के रूप में स्थिर कर सकने में सफल हो सका। ऊपर के चित्रों में यही विधि प्रदर्शित है। कोक की भट्ठी से हवा और पानी की क्रियाओं द्वारा हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कार्बन-डाइऑक्साइड और कार्बन-मोनोक्साइड गैसों का मिश्रण निकलता है। इस मिश्रण से, जैसा कि चित्र में प्रदर्शित है और लेख में विस्तारपूर्वक वर्णित

४ लाख टन कैल्शियम नाइट्रेट बनाया करता है।

नार्वे के इस उद्योग में सबसे अधिक पूँजी जर्मनी ही की लगी हुई थी, और वह उत्पादित पदार्थों का सबसे बड़ा ग्राहक था। वह न केवल रासायनिक खादों का ही सबसे अधिक उपयोग करता था, वरन् १९१४ की लड़ाई के लिए विस्फोटकों के बनाने में नाइट्रिक ऐसिड के एक वृहद् परिमाण का भी व्यय कर रहा था। लड़ाई के निकट आने पर उसने परदेशी उद्योगों पर सर्वथा निर्भर रहना अनुचित समझा। जर्मनी में जल-शक्ति का अभाव है, अतएव उसने अपने वैज्ञानिकों को किसी ऐसी विधि को आविष्कृत करने के लिए उत्साहित किया जिसका उपयोग जर्मनी में ही सरलता से हो सके। महायुद्ध के एक वर्ष पहले अर्थात् १९१३ में, फ्रिट्ज हेबर ने अपने अनुसधानों द्वारा अपने देश की इस आवश्यकता की पूर्ति कर दी। जर्मनी ने अपने नार्वे के कारख़ानों को बेच डाला, और अपने देश के उद्योग पर अधिक ध्यान देना शुरू कर दिया। सन १९१४ में युद्ध के शुरू हो जाने के बाद इगलैंड और जर्मनी ने चिलियन शोरे के लाने का मार्ग एक दूसरे के लिए बन्द कर दिया। दोनों में इसी बात पर सामुद्रिक युद्ध हुआ, किन्तु इगलैण्ड परास्त हुआ। फिर एक दूसरी लड़ाई हुई, जिसमें जर्मनी को पछाड़ खानी पड़ी। इसका फल यह हुआ कि चिली का रास्ता जर्मनी के लिए बन्द हो गया, और इगलैंड के लिए खुल गया। इस प्रकार जर्मनी के लिए एकमात्र आशा हेबर की विधि ही रह गई। एक बहुत बडे पैमाने मे हेबर की विधि का उपयोग उस देश में हुआ, जिसका फल यह हुआ कि जर्मनी ने न केवल अपने ही देश की वरन् सारे ससार की स्थिर नाइट्रोजन सबधी समस्या सदा के लिए हल कर दी। जर्मनी १,१६,०००० टन स्थिर-नाइट्रोजन प्रतिवर्ष चिली से लाया करता था, अपने यत्रों द्वारा वह ५,००,००० टन नाइट्रोजन का प्रति वर्ष स्थिरकरण करने लगा। और सस्तापन इतना कि जर्मनी के बने
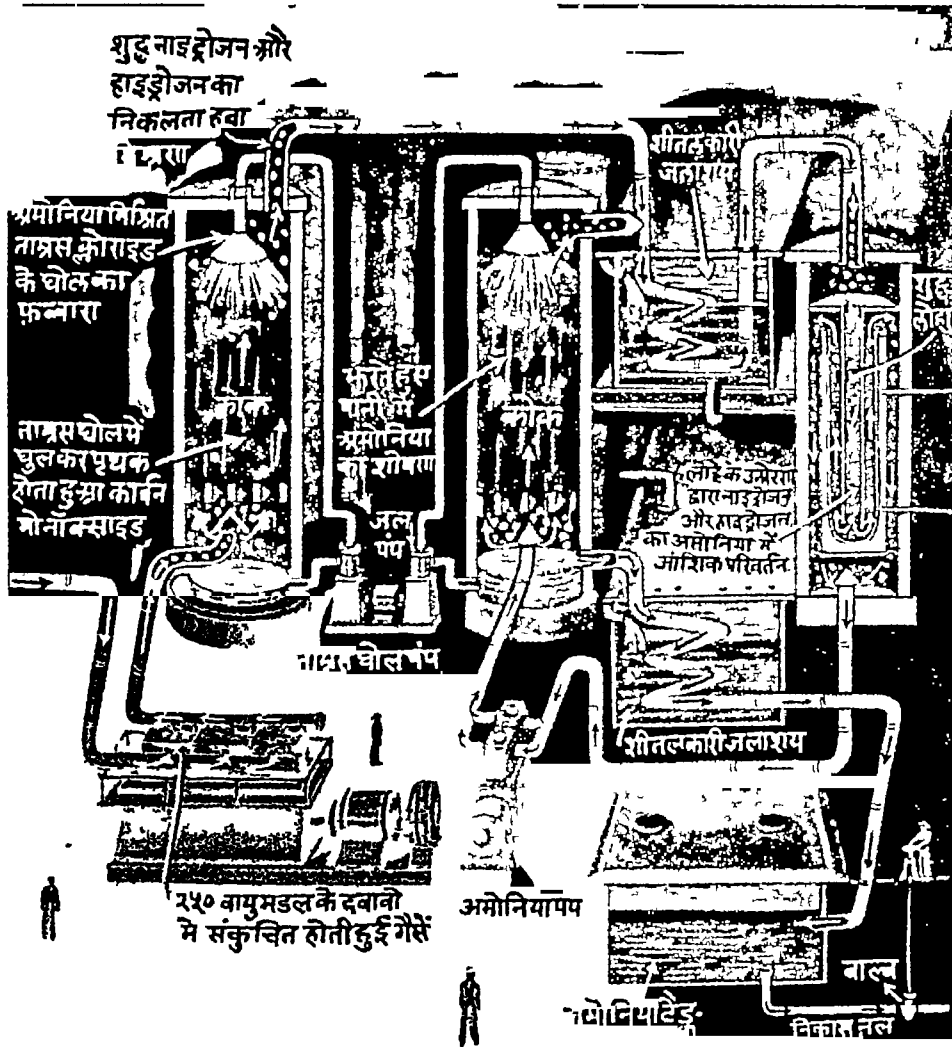
ट्रोजन से अमोनिया का उत्पादन

है, कार्बन-मोनॉक्साइड और कार्बन-डाइऑक्साइड प्रथक् कर लिये जाते हैं। बची हुई शुद्ध हाइड्रोजन और नाइट्रोजन के मिश्रण से लोहे के उत्प्रेरण द्वारा अमोनिया का उत्पादन होता है। चित्र में दिखाए गए मनुष्यों के आकार से हम विभिन्न मीनारों की ऊँचाई का अदाजा लगा सकते हैं। हेबर की विधि का प्रयोग जर्मनी में बहुत बड़े पैमाने पर हुआ। इस विधि से अपने यत्रों द्वारा जर्मनी ५ लाख टन नाइट्रोजन का स्थिरकरण करने लगा।

हुए नाइट्रेट स्वयं अमेरिका ले जाकर वहाँ के किसानों के हाथ चिलियन शोरे के आधे दामों पर बेचे जा सकते थे। कहा जाता है कि यदि हेबर अपने बुद्धिबल द्वारा अपने देश का सहायक न होता तो जर्मनी को एक ही दो वर्षों में अपने नाइट्रेटों के स्टॉक के समाप्त होने पर, लड़ाई बंद कर देनी पड़ती, जर्मनी इतने दिनों तक हेबर के ही यंत्र के सहारे लड़ाई लड़ता रहा। युद्ध के समय में जर्मनी प्रतिवर्ष २,००,००० टन नाइट्रिक ऐसिड केवल विस्फोटकों को ही बनाने में खर्च करता था, तब भी उसके स्थिर नाइट्रोजन के भाण्डार में कमी न पड़ती थी।

यह हेबर-प्रणाली है क्या, यह भी हम लोगों को जान लेना चाहिए। बिजली की विधियों में नाइट्रोजन को संयुक्तावस्था में लाने के लिए ऑक्सिजन का उपयोग होता है। हेबर ने हाइड्रोजन का उपयोग किया। गत लेख में हम यह बता चुके हैं कि जब एक और तीन के आयतनिक अनुपात में नाइट्रोजन और हाइड्रोजन को मिलाकर और फिर उन्हें लगभग २५० वायुमंडल के दबावों से संकुचित करके लगभग ५००°C तक गर्म किए हुए महीन लोहे पर प्रवाहित किया जाता है तो मिश्रण का कुछ अंश अमोनिया में परिवर्तित हो रहता है। इसी रासायनिक क्रिया का उपयोग हेबर ने सस्ते और बड़े पैमाने में किया। सबसे अधिक प्रचलित विधि पृ० १०७०-७१ पर दिए चित्रों में दिखाई गई है। अथ्रेसाइट कोयले या कोक की भट्ठी में पहले हवा धौंकी जाती है जिससे कोयले रक्त-तप्त हो जाते हैं और साथ-ही-साथ हवा की ऑक्सीजन कार्बन-डाइऑक्साइड में बदल जाती है, किन्तु नाइट्रोजन स्वतंत्र रूप में ही रह जाती है। फिर हवा को बंद करके भट्ठी के भीतर भाप धौंकी जाती है। भाप और रक्ततप्त कोयले की प्रतिक्रिया द्वारा हाइड्रोजन और कार्बन-मोनॉक्साइड गैसों का उत्पादन होता है। इस प्रकार भट्ठी से हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कार्बन-मोनॉक्साइड और कार्बन-डाइऑक्साइड गैसें निकलकर धोनेवाली मीनारों में चढ़ती हैं। पानी के फव्वारों तथा कोक के टुकड़ों के बीच में टपकते हुए पानी द्वारा उनमें मिले हुए अपद्रव्य अलग हो जाते हैं, और भट्ठी के कोयले से निकलकर आया हुआ कोलतार नीचे बैठ जाता है, जहाँ से वह निकाल लिया जाता है। इसके बाद ये गैसें एक गैस-होल्डर में आकर इकट्ठी हो जाती हैं। हेबर की प्रतिक्रिया के लिए केवल शुद्ध हाइड्रोजन और शुद्ध नाइट्रोजन की ही आवश्यकता पड़ती है, अतएव इसके बाद कार्बन-मोनाक्साइड और कार्बन-डाइऑक्साइड गैसों को पृथक् कर देने का प्रबंध रहता है। पहले गैस-होल्डर से गैसें ऐसी मीनारों में प्रविष्ट की जाती हैं जिनमें भाप धौंकी जाती रहती है और उसकी उपस्थिति में गैस लोहे की ऑक्साइड के संसर्ग में प्रवाहित की जाती है। लोह-ऑक्साइड की उत्प्रेरणा से भाप कार्बन-मोनोक्साइड को कार्बन-डाइऑक्साइड में बदल देती है और स्वयं घटकर हाइड्रोजन के रूप में रह जाती है—

$$H_2O + CO = CO_2 + H_2$$
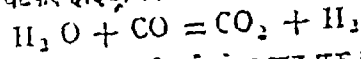
इन मीनारों से निकली हुई गैसें अब एक दूसरे गैस-होल्डर में भर ली जाती हैं। इनमें मुख्यतः हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और कार्बन-डाइऑक्साइड गैसें, तथा लघु अंश में कार्बन-मोनाक्साइड गैस भी रहती है। कार्बन डाइऑक्साइड ऊँचे दबाव पर पानी में घुलनशील है—सोडावाटर की बोतल में ऊँचे दबाव पर यह घुलित दशा में बनी रहती है, लेकिन जैसे ही डाट खोलकर दबाव हटा लिया जाता है यह निकल पड़ती है और उसके निकलने के कारण बुलबुले और झाग उठते हुए दिखाई देते हैं। अतएव इस मिश्रण से कार्बन-डाइऑक्साइड ऊँचे दबाव में उसे पानी में घोलकर अलग कर लेते हैं। दूसरे गैस-होल्डर से गैसों को निकालकर पहले २५ वायुमंडलों के दबाव में संकुचित करते हैं। फिर इन गैसों को ऐसी मीनारों में चढ़ाते हैं, जिनमें कोक के टुकड़ों से होकर पानी झरता रहता है। इस दबाव पर पानी में सारा कार्बन-डाइऑक्साइड घुलकर पृथक् हो जाता है। अब इन गैसों का दबाव बढ़ाकर २५० वायुमंडल के बराबर कर दिया जाता है और वे ऐसी मीनारों में प्रविष्ट की जाती हैं जिनमें ताम्रस-क्लोराइड का अमोनिया में घोल टपकता रहता है। इस घोल में बची खुची कार्बन-मोनॉक्साइड पूर्णतः शोषित होकर अलग हो जाती है। इन मीनारों से निकलनेवाली गैसें शुद्ध हाइड्रोजन और नाइट्रोजन का मिश्रण होती हैं, अतएव अब उन्हें ठंडा करके मुख्य प्रतिक्रिया की मीनार में प्रविष्ट करते हैं। इस मीनार के भीतर नलाकार मार्गों में शुद्ध स्पंज-रूपी लोहा भरा रहता है, जिसको बिजली द्वारा लगभग ५००°C तक गर्म रखते हैं। गैस-मिश्रण का कुछ अंश संयुक्त होकर अमोनिया गैस में बदल जाता है। यहाँ से निकलकर गैसें गिरते हुए पानी के मीनारों में फिर चढ़ती हैं। इन मीनारों में अमोनिया का घोल जमा होता रहता है जिसे फिर ठंडा करके एक टैंक में इकट्ठा कर लिया जाता है। बची हुई हाइड्रोजन

और नाइट्रोजन का मिश्रण फिर प्रतिक्रिया की मीनार में भेज दिया जाता है। इस अमोनिया को खाद में परिणत करने के लिए या तो गधक के तेजाब द्वारा, अथवा जिप्सम (कैल्शियम सल्फेट), पानी और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की सयुक्त क्रिया द्वारा अमोनियम सल्फेट मे परिणत कर लिया जाता है। दूसरी विधि में कैल्शियम कार्बोनेट तलछट के रूप में नीचे बैठ जाता है और अमोनियम सल्फेट का घोल ऊपर रह जाता है। अमोनियम सल्फेट के घोल से वाष्पीकरण द्वारा अमोनियम सल्फेट के रवे विलग कर लिये जाते हैं। आज नाइट्रोजन के स्थिरकरण का यह उद्योग कितना बढ़-चढ़ गया है, इसका अनुमान हम तब लगा पाते हैं जब हम देखते हैं कि संसार प्रति वर्ष हेबर की विधि से ४५ लाख टन अमोनियम सल्फेट तैयार करता है। अतएव यह स्पष्ट है कि हम रासायनिक खादों के अभाव से भविष्य में कभी भूखों नहीं मर सकते।

हेबर की विधि में नाइट्रिक ऐसिड का उत्पादन नहीं होता, लेकिन विस्फोटकों तथा नाइट्रेटों को बनाने में नाइट्रिक ऐसिड की ही आवश्यकता पड़ती है। अतएव एक दूसरे जर्मन वैज्ञानिक आस्टवाल्ड ने हेबर की विधि की इस रही-सही बात को भी पूरा कर दिया। आस्टवाल्ड की रीति में एक अलूमीनियम के बक्स मे आरपार कसी हुई कुछ प्लैटिनम की जालियाँ लगी रहती हैं। इन जालियों को पहले बिजली द्वारा लगभग ६००°C तक गर्म कर देते हैं, और फिर इस बक्स के भीतर से एक आयतनिक भाग शुद्ध अमोनिया और आठ आयतनिक भाग शुद्ध हवा का मिश्रण प्रवाहित करते हैं। अमोनिया का ऑक्सीकरण शुरू हो जाता है और इतनी गर्मी पैदा होती है कि प्रतिक्रिया के शुरू होते ही प्लैटिनम की जालियाँ अपने आप, बग़ैर गर्म किए, रक्ततप्त रहती हैं। प्लैटिनम केवल उत्प्रेरक का कार्य करता है और इसके प्रभाव से लगभग ९० प्रतिशत अमोनिया हवा की ऑक्सिजन द्वारा नाइट्रिक ऑक्साइड गैस मे परिणत होती रहती है। इस नाइट्रिक ऑक्साइड से उसी रीति से नाइट्रिक ऐसिड तैयार कर लेते हैं जिसका वर्णन हम बर्कलैण्ड और आइड की विधि में कर चुके हैं। आस्टवाल्ड की पूर्त्तिकारी विधि की सफलता का अनुमान इस बात से लगा सकते हैं कि प्लैटिनम की दोहरी जाली के एक वर्गफुट से २४ घटे मे ७ टन नाइट्रिक ऐसिड तैयार हो सकती है।

पानी
प्लैटिनम की जालियाँ
ऑक्सीकारी मीनार
नाइट्रिक ऐसिड
अमोनिया व हवा का मिश्रण
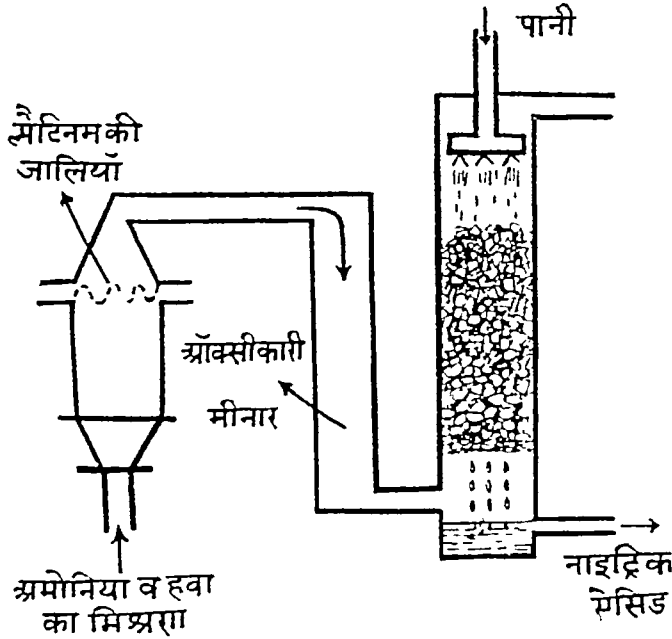
आस्टवाल्ड की विधि से अमोनिया का नाइट्रिक ऐसिड मे परिवर्तन

अमोनिया का एक आयतन और हवा के आठ आयतनों का मिश्रण एक ऐसे अलुमीनियम के बक्स में प्रविष्ट किया जाता है जिसके आर-पार प्लैटिनम की जालियाँ लगी रहती हैं। प्लैटिनम पहले बिजली द्वारा गर्म कर दिया जाता है, बाद में वह प्रतिक्रिया द्वारा उत्पादित गर्मी से ही रक्ततप्त रहता है। प्लैटिनम के उत्प्रेरण द्वारा अमोनिया का नाइट्रिक ऑक्साइड में ऑक्सीकरण हो जाता है। इस नाइट्रिक ऑक्साइड में उसी रीति द्वारा नाइट्रिक ऐसिड बना ली जाती है जिसका बर्कलैंड और आइड की विधि में उपयोग होता है।

हेबर की विधि के बाद नाइट्रोजन के स्थिरकरण की जो अन्य दो विधियाँ, कम-से-कम जर्मनी के बाहर, कुछ अपना महत्त्व रखती हैं, उन्हे क्रमश. सायनामाइड विधि और सर्पक विधि कहते हैं। सायनामाइड विधि में कैल्शियम कार्बाइड का उपयोग होता है। इसे साइकिल की लैम्प में काम आते आपने देखा होगा। इस कार्बाइड को तोड़कर मजबूत बेलनाकार पीपों मे भर लिया जाता है, और प्रतिक्रिया शुरू करने के लिए बिजली द्वारा उसे ११००°C तक गर्म कर लिया जाता है। अब इसके ऊपर से नाइट्रोजन प्रवाहित की जाती है जो सयुक्त होकर कैल्शियम कार्बाइड को कैल्शियम सायनामाइड मे बदल देती है, और कार्बाइड से कुछ कार्बन ग्रैफ़ाइट के रूप में मुक्त होकर निकल आता है।

$$CaC_2 + N_2 = CaCN_2 + C$$

कैल्शियम कार्बाइड नाइट्रोजन कैल्शियम सायनामाइड ग्रैफ़ाइट

यह सायनामाइड खाद के रूप में उपयुक्त होता है और लाइम-नाइट्रोजन, नाइट्रोलाइम, या नाइट्रोलिम आदि नामों से बिकता रहता है। पानी की क्रिया द्वारा इससे धीरे-धीरे अमोनिया निकलकर मिट्टी में अमोनियम लवणों का उत्पादन करती रहती है। अतितप्त भाप की क्रिया द्वारा कैल्शियम सायनामाइड से अमोनिया का उत्पादन भी कर लिया जाता है —

$$CaCN_2 + 3H_2O = CaCO_3 + 2NH_3$$

सायनामाइड भाप कैल्शियम कार्बोनेट अमोनिया

और इस अमोनिया से आवश्यकतानुसार आस्टवाल्ड की विधि द्वारा नाइट्रिक ऐसिड और नाइट्रेटों को भी बना लिया जाता है। सन् १९२५ में दो लाख टन से कुछ ही कम नाइट्रेटों का निर्माण सायनामाइड पद्धति से हुआ था।

सर्पक विधि अलुमीनियम धातु के बनाने में उपयुक्त होती है। प्रकृति में अलुमीनियम धातु 'बाक्साइट' नामक खनिज के रूप में बहुत बड़े परिमाण में रहती है। यह बाक्साइट अशुद्ध अलुमीनियम ऑक्साइड होती है। इस विधि में बाक्साइट को कोयले के साथ मिलाकर १८००°C तक गर्म करते हैं और इस तप्त मिश्रण के ऊपर नाइट्रोजन प्रवाहित करते हैं, जिससे अलुमीनियम नाइट्रोजन से संयुक्त होकर अलुमीनियम नाइट्राइड नामक यौगिक में परिणत हो जाती है—

$$Al_2O_3 + 3C + N_2 = 2AlN + 3CO$$

अलुमीनियम ऑक्साइड कार्बन नाइट्रोजन अलुमीनियम नाइट्राइड कार्बन मोनॉक्साइड

अलुमीनियम नाइट्राइड पर जब दबी हुई भाप की क्रिया होती है तो अमोनिया निकलती है और शुद्ध अलुमीनियम ऑक्साइड बच रहती है जिससे अलुमीनियम निकाली जाती है। सर्पेक विधि का थोड़ा बहुत उपयोग फ्रांस के अलुमीनियम के कारखानों में किया जाता है।

इस प्रकार हमने देखा कि मनुष्य नाइट्रोजन के पीछे कितना पड़ा रहता है। वनस्पतियों के लिए कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन भी उतने ही आवश्यक हैं जितनी नाइट्रोजन, लेकिन वे उन्हें हवा और पानी से सरलता से मिल जाते हैं। इसी प्रकार वनस्पतियों के लिए अन्य आवश्यक मूलतत्त्व कैल्शियम, मैग्नेशियम, लोहा, सिलिकन, अलुमीनियम, गंधक, फ़ास्फ़ोरस, पोटैशियम, आदि भी मिट्टी में प्रायः बने ही रहते हैं। अतएव इन मूलतत्त्वों के लिए मनुष्य को अधिक चिन्ता नहीं करनी पड़ती। केवल नाइट्रोजन ही एक ऐसा मूलतत्त्व है जिसकी कमी को समय-समय पर मिट्टी में पूरा किए बिना फ़सलों का उत्पादन ही असंभव है। प्रकृति इस कमी को पूरा किया करती है, परंतु जब प्रकृति मनुष्य की फ़सलों की आवश्यकताओं को पूरा न कर सकी तो मानव ने स्वयं वायुमण्डल की नाइट्रोजन पर विजय प्राप्त की। वास्तव में वह लाखों करोड़ों टन नाइट्रोजन इसीलिए स्थिर करता है कि वनस्पतियों को खाद्य पहुँचाकर उनकी प्रोटीनों द्वारा स्वयं अपने पोषण के लिए नाइट्रोजन उपलब्ध कर सके।

कैल्शियम सायनामाइड विधि

इन मजबूत पीपों में कैल्शियम कार्बाइड भर कर बिजली द्वारा २०००° फैरनहाइट तक ताप पहुँचाया जाता है और फिर उनमें नाइट्रोजन गैस प्रवाहित की जाती है।

ऋत

मनुष्य के सामने सृष्टि का अनन्त विस्तार फैला हुआ है। वैज्ञानिक और पौराणिक दोनों ही अपनी-अपनी दृष्टि से सृष्टि की अनन्तता के विषय में एकमत हैं। विज्ञान के अनुसार यह ब्रह्माण्ड सूक्ष्माति-सूक्ष्म परमाणुओं के पारस्परिक संघटन और विघटन का परिणाम है। यज्ञ की परिभाषा में ये परमाणु कुछ-कुछ वेदिचयन की इष्टकाओं की भाँति जान पड़ते हैं जिनको विधाता ने अत्यन्त स्थिर रीति से अपने स्थान में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। काल के सततवाही प्रवाह में इनके ध्रुव बिन्दु अविचाली रहकर सृष्टि की धुरी को पकड़े रहते हैं। परमाणु की आन्तरिक रचना अत्यन्त जटिल है। वस्तुतः उसके रहस्य के समक्ष विज्ञान के मनीषी उपासकों की प्रतिभा भी आज तक पूरी विजय नहीं पा सकी। परमाणु का केन्द्र क्या है, उसकी परिधि पर चकराते हुए विद्युत् कणों का यथार्थ स्वरूप क्या है, यह एक पहेली है। क्या इन कणों का अन्तिम रूप भौतिक है, अथवा क्या ये केवल विद्युत् की तरंगें हैं, जिनके आन्दोलन की प्रतीति मात्र हमारे यन्त्रों के द्वारा होती है, इन प्रश्नों का संतोष-प्रद समाधान विज्ञान को प्राप्त करना शेष है। हो सकता है, यह रहस्य मानवी मस्तिष्क के लिए इसी प्रकार दुरूह बना रहे। अथवा यह भी संभव है कि कुछ क्षणों के लिए प्रकृति अपने रहस्यमय प्रांगण की एक झाँकी मनुष्य के लिए सुलभ कर दे। यह उसके स्वयंवर की इच्छा पर निर्भर है। जो अज्ञात और अपरिचित है, वही रहस्यमय है। जो रहस्य है वही आकर्षण से युक्त है। वैज्ञानिक तत्त्वों का अणोरणीयान् रूप एकान्ततः आकर्षण और सौन्दर्य भाव से संपन्न है।

विश्व का महत् रूप भी अत्यन्त विलक्षण है। कहाँ एक ओर हमारी यह पृथिवी और कहाँ दूसरी ओर ऐसे-ऐसे दूरस्थ नक्षत्र और नीहारिकाएँ जिनके प्रकाश को हमारी पृथिवी तक पहुँचने में करोड़ों वर्ष लग जाते हैं। ब्रह्माण्ड की कुक्षि में हमारी पृथिवी-जैसे अगणित नक्षत्र-जगत् भरे हुए हैं। उनकी संख्या निर्धारित करने में गणित के अंक हमारी सहायता करने से हिचकिचाते हैं। कैलाश को तोलनेवाले दशग्रीव रावण के समान ये दशविध अंक भी अन्ततः रो देते हैं। किन्हीं वैज्ञानिकों का यह कहना कि निखिल ब्रह्माण्ड की तुलना में यह पृथिवी ऐसी है जैसे विश्व के महासागर में भरे हुए अनन्त बालू के कणों की तुलना में एक नन्हा-सा सिकता-कण, किसकी सान्त्वना के लिए हो सकता है?

पुराणों की भाषा का प्रयोग करें तो अनन्त विश्व का यह रूप और भी काव्यमय प्रतीत होगा। विराट् विष्णु के एक-एक रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का समावेश कहा जाता है। परन्तु उन सबके पीछे जो महान् तत्त्व है उसके नियमन से बहिर्गत कुछ नहीं है। संभवतः उस तत्त्व का एक रोआँ भी इस सृष्टि से पूरी तरह विपरिणाम या विकार को प्राप्त नहीं हो पाता। उसके एक अनिर्दिष्ट अंश में ही यह जगत् परिच्छिन्न है।

ऋत का तन्तु

सूक्ष्म और विराट् विश्व के इस अनन्त रूप को एक सूत्र में ग्रथित करनेवाला रहस्य क्या है? चौदह कोटि प्रकाश वर्ष की दूरी पर स्थित नक्षत्रों में परमाणु के विकास और विलय के जो नियम कार्य कर रहे हैं वे ही हमारे समीप में भी हैं। ध्रुव नक्षत्र या अगस्त्य नक्षत्र में जीवन और मृत्यु का जो अनुशासन है वही इस पृथिवी पर है। जो यहाँ है वही सर्वत्र है, जो यहाँ नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है। यही सरलतम वैज्ञानिक नियम है। किसी देश विशेष में ऐसी गुहा नहीं है जहाँ प्राकृतिक रहस्यों की कुंजी छिपी हो। 'सर्वं सर्वत्र सर्वदा' यह शाश्वत अनुभव है। भूत-भविष्य-वर्तमान में विश्वप्रवाह की एक अखंड धारा बह रही है। पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर, ऊपर-नीचे सब दिशाओं में एक नियम की अखंड स्थिति

है। देश और काल के कोठे में ओर से छोर तक एक नियम व्याप्त है। यही ऋत का तन्तु है। यह धागा प्रत्येक परमाणु में पिरोया हुआ है। जड़-चेतन सबमें ऋत का एक तन्तु ओत-प्रोत है। वैज्ञानिक का यही गुरु आधार है। एक परमाणु पर जिस प्रकार के प्रयोग का जो परिणाम एक शताब्दी पूर्व निकला था, वही आज अविकल रूप में किसी भी प्रयोगशाला में दोहराया जा सकता है। स्वर्ण के एक कण या विद्युत् की एक तरंग की जो भौतिक विशेषताएँ हमारे विज्ञान-मन्दिर में उपलब्ध होती हैं, वे सब हूबहू वैसे ही सूर्यमंडल में या उससे भी दूर पर स्थित नक्षत्र-जगत् में विद्यमान हैं। ऋत की अखंडता देश और काल से परे की वस्तु है, दूरी और समय का कैसा भी व्यवधान ऋत के नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकता। इसी आश्वासन से प्रेरित होकर वैज्ञानिक अहर्निश अपने प्रयोग और अन्वेषण में निरत रहते हैं। प्रकाश और ताप, विद्युत् और चुम्बक, सृष्टि के इन बालखिल्यों की सर्वत्र एकरस गति पाई जाती है। सहस्राब्दियों तक परीक्षण करने पर भी इनके नर्तन की अस्खलित गति में आज तक किसी प्रकार का विपर्यय नहीं पाया गया। उषा हमारे आकाश में नित्य प्रति सञ्चरण करने आती है। ऋषि ने उसे 'पुराणी युवति' कहा है। सृष्टि के पहले दिन से जब उसके रूप को देखकर सूर्य भगवान् ठिठके होंगे क्या आज तक उसके रमणीय लावण्य भाव में किसी ने कुछ भी अन्तर देखा है?

इसका कारण विश्व का अखंड नियम है जो सदा सर्वत्र फैला हुआ है। वैज्ञानिक इसे Cosmic order कहकर श्रद्धा से प्रणाम करते हैं। पूर्व ऋषियों ने इसे ऋत कहा है।* पृथिवी जिस सञ्चार-पथ (Orbit) से घूमती है, वह पथ विश्व के ऋत ने उसके लिए स्थिर किया है। सौरमंडल एवं सम्पूर्ण नक्षत्रसमूह के आकर्षण-प्रत्याकर्षणों का जो अन्तिम निर्णय हुआ उसी ने पृथिवी के लिए ऋत मार्ग की कल्पना की। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह, सभी ऋत पथ के अनुयायी हैं। वेदों में देवों को 'ऋतावृध' अर्थात् ऋत से बढ़नेवाला कहा गया है। ऋत को जानना ही सच्ची प्रज्ञा है। ऋतज्ञ और ऋतधी विशेषण ज्ञानी के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अग्नि ऋत से घिरा हुआ (ऋत-प्रवीत) है। ज्ञानाग्नि और ऋत का शाश्वत मेल है। ज्ञान-चक्षु जहाँ देखता है उसे विश्व-नियन्ता के ऋत का दर्शन होता है। ऋषि ने कहा है—

> परि द्यावा पृथिवी सद्य इत्वा
> परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
> ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य
> तदभवत् तदपश्यत् तदासीत् ॥

द्युलोक और पृथिवी, लोकान्तर और दिशाएँ सर्वत्र मैंने ऋत के तन्तु को फैला हुआ देखा। वह ऋत ही यह सब कुछ हुआ है। उस ऋत के सूत्र को देखने के लिए मैंने समस्त भुवनों की यात्रा की—

> परि विश्वा भुवनान्यायम्
> ऋतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।† (अथर्व २।१।५)

अर्थात्, मैं निखिल ब्रह्माण्ड के सब लोकों में ऋत के फैले हुए तन्तु को देखने के लिए घूम आया हूँ।

यही अनुभव कागभुशुंडि ने अवध से ब्रह्मलोक तक और शिवलोक से इन्द्रलोक पर्यन्त घूमकर प्राप्त किया था। सर्वत्र एक ही वैष्णवी माया का दर्शन हुआ। वे जहाँ गए वहीं राम का हाथ उनके पीछे लगा रहा।

> ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं चितयउँ पाछ उड़ात।
> जुग अंगुल कर बीच सब रामभुजहि मोहि तात ॥
> सप्तावरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि।
> गयउँ तहाँ प्रभुभुज निरखि व्याकुल भयउँ बहोरि ॥

अर्थात् ब्रह्मलोक तक भागते हुए जब-जब मैंने पीछे मुड़कर देखा, अपने से दो ही अंगुल की दूरी पर राम का हाथ मुझे दीख पड़ा। विश्व के सात परदों को भेदकर जहाँ तक जा सका, मैं गया, परन्तु राम की भुजा ने मेरा पीछा न छोड़ा। राम की भुजा राम के नियम की प्रतीक मात्र है। देश और काल के साथ अन्य सब-कुछ परिवर्तन को प्राप्त हो जाता है परन्तु 'राम का नियम' सदा सर्वत्र एक-सा बना रहता है। राम का नियम स्वयं राम है। विधाता और उसका सृष्टिनियम एक-दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। कागभुशुंडि ने सात आवरणों को पार करते हुए लोक-लोकान्तरों में और सब कुछ बदलते हुए देखा पर अकेले राम वैसे-के-वैसे बने रहे—

> भिन्न-भिन्न मैं दीख सबु अति विचित्र हरिजान।
> अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन ॥
> (उत्तरकांड दो० ८१)

---

* ऋत—Divine Law, Divine Order। ऋत शब्द ऋ गतौ धातु से बना है। *Rita* is the eternal Law of the Universe and *the first-born son* thereof is Prajapati, the Creator (सिसृक्षु)।

† I round all these worlds have travelled to see the far-extended thread of Order

राम के उदर में जो ये अनन्त ब्रह्माड निकाय हैं उनमें सृष्टि की विचित्रता वर्णन से परे हैं। लोक-लोकान्तरों में पृथिवी, नदी, समुद्र, पर्वत, वनस्पति, पशु और प्राणियों के प्रपच को देखकर मानवी बुद्धि चकराने लगती है। वैज्ञानिक लोग सूम के धन की तरह एक-एक कौड़ी जोड़ते हुए इस विचित्र विश्व के विविध ज्ञान का सग्रह करते हैं। प्रशान्त महासागर की तलहटी में पड़े हुए घोंघों की पाचन-प्रणाली और श्वास-नली की टटोल करते हुए उनके युग बीत जाते हैं। परन्तु इस **बहुधा** विस्तार का कहीं अन्त नहीं मिलता। इन सबके भीतर जो अन्तर्यामी सूत्रात्मा है वही इस प्रपच के उन्मत्त विस्तार को अर्थवान् बनाता है। उस अन्तर्यामी सूत्र का वाचक ऋत है। सीता के चरणों में चोंच मारकर भागे हुए जयन्त की कथा का रहस्य भी यही है। ऋतावरी देवी के चरणों का जो अपराधी है उसे ब्रह्माण्ड में कहीं भी शरण नहीं मिल सकती।

ऋत और वरुण

ऋत का अधिष्ठाता वरुण है। ऋत के विपरीत जो आचरण करता है उसे वरुण के पाश बाँध लेते हैं। ऋत का उलटा अनृत है। अनृत ही पाप है। ऋत का मार्ग ऋजुमार्ग है, कुटिल या टेढ़ा (अनृजु) मार्ग मृत्यु का पद है—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।

मनुष्य ज्यों-ज्यों ऋतमार्ग की अवहेलना करता है और पाप में फँसता जाता है वरुण के पाश उसके चारों ओर घेरा डालने लगते हैं। बन्धन में वरुण भाव है। मोक्ष वरुण-पाशों से छूटने का नाम है। वरुण का प्रतिस्पर्धी मित्र है। मित्र और वरुण ही देव और आसुर भाव हैं। बहता हुआ पानी मित्र का भाग है। ठहरा हुआ जल वारुण हो जाता है। ठहरने अर्थात् परिमित हो जाने से ही जलों में दुर्गन्ध उत्पन्न होती है। यही स्वभाव मन का है। ऋतगामी मन दिव्य होता है। अनृत से सनकर वही क्षुद्र हो जाता है। जीवन का सर्वोत्तम व्रत यही है कि हम अनागस् या पापों से मुक्त रहें—

हे वरुण, हमारे उत्तम, मध्यम और अधम पाशों को दूर करो। हे आदित्य, हम निष्पाप रहकर तुम्हारे व्रत में दीक्षित होकर अमृत गति को प्राप्त करें।

(अथर्व ७।८३।३)

ससार में कई तरह के बन्धन हैं। कुछ रेशमी डोरे हैं, कुछ लोहे की शृखलाएँ हैं। हैं दोनों पाश। दोनों से ही बचना आवश्यक है। जितने सूक्ष्म बन्धन हैं, उनसे मुक्ति भी उतनी ही कठिन है। मनुष्य की सफलता इसी में है कि वह शान्ति के साथ यह अनुभव कर सके कि हम इस लोक के और परलोक के जो ऋण हैं, उन सब से उऋण होकर अपना जीवन बिता सकें—

अनृणा अस्मिन्ननृणा परस्मिन्
तृतीये लोके अनृणा स्याम।
ये देवयाना पितृयाणाश्च लोका
सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम॥

(अथर्व ६।११७।३)

जो देवों के और पितरों के मार्ग हैं, उन सब मार्गों मे हम ऋणरहित होकर विचरें। प्रकृति की शक्तियाँ कभी ऋत का उल्लघन नहीं करतीं। सूर्य, चन्द्र, रात और दिन, ऋतु और सवत्सर अपने दैवी मार्ग पर अमृत भाव से सचरण करते हैं। मनुष्य ही उस मार्ग से द्रोह करता है। ऋत मार्ग का विरोध यदि मानव के स्वभाव से दूर हो जाय तो मनुष्य भी देव बन सकता है। यद्यपि ऋत अर्थात् विश्व के दुर्धर्ष नियम का सबध चेतन और अचेतन सबसे है, तथापि मनुष्य-जीवन के लिए ही ऋत के साथ विद्रोह करने के कारण पाप की समस्या उत्पन्न होती है। यहीं से विज्ञान और दर्शन के दृष्टि-पथों में अन्तर प्रारम्भ होता है। जीवन को ऋतात्मक बनाने का प्रयत्न ही ऋत का दार्शनिक अनुभव है।

वैदिक तत्त्वज्ञान की यह बड़ी विजय है कि उसके प्रज्ञावान् मनीषियों ने ऋत या विश्व-व्यापी अखड नियम की दुर्धर्ष सत्ता का मानवी ज्ञान के उषःकाल में ही साक्षात् अनुभव प्राप्त कर लिया था। विश्व के वन्दनीय नियमों के लिए न कोई शत्रु है न कोई मित्र। यहाँ किसी प्रकार का निजी या प्रातिस्विक सबध नहीं है। इस उदार राज्य मे मानव का प्रतिकूल और अनुकूल आचार ही उसे ऋत पथ का विद्वेष्टा या अनुगामी बनाता है। चित्त की सकुचित वृत्तियों और क्षुद्र भावनाओं के लिए ऋत के जगत् में स्थान कहाँ है! ऋत का ससार वरुण के घेरों से स्वतत्र है, उसमे सर्वत्र विराट् की प्रेरणा रहती है। मनुष्य जब तक ऋत के तन्तु या महान् सूत्र से दूर रहकर उसकी प्रेरणा से वचित है, तब तक भय और मृत्यु उस पर आक्रमण करके उसे क्षुद्र बनाए रहते हैं। जिस समय वह अपने ही केन्द्र को पहचान कर विराट् बनाता है, उसकी सीमाएँ या बन्धन स्वय शिथिल होकर छूट पड़ते हैं।

प्राचीन भारत की शुनःशेप कथा मनुष्य और ऋत के संबंध को व्यक्त करती है। प्रत्येक मनुष्य देश और काल के सम्मिलन-बिंदु पर जीवन के मेरुदंड में जकड़ा हुआ है। उसकी वर्तमान स्थिति समस्त पूर्वजन्मों के अर्जित संस्कारों का फल है। उन संस्कारों ने हमको जिस परिस्थिति में लाकर खड़ा कर दिया है उसी वातावरण में हम अपने को पाते हैं। यह जीवन का मेरुदंड ही यज्ञ का यूपस्तम्भ है। इस यूप में सब प्राणी आबद्ध हैं। शरीर रचना में भी सर्वप्रथम इसी यूप या मेरुदंड को आधार बनाकर हमारे भौतिक परमाणुओं का संगठन प्रारम्भ होता है। बिना यूप के सृष्टि असम्भव है। इस जीवनयूप में आबद्ध प्राण को अवश्य ही एक दिन मृत्यु के मुख में जाना है। समय रहते हुए जो इस मृत्यु-बंधन से छूटने का उपाय करता है वही मुक्त है। मृत्यु और जीवन की समस्या को स्वयं हर एक को अपने लिए हल करना आवश्यक है। अन्य किसी प्रतिनिधि के द्वारा यह कार्य नहीं हो सकता। ऋत के अधिष्ठाता वरुण का तकाज़ा हरएक प्राणी पर है। वह हर एक के द्वार पर आकर उसे सचेत करता है कि उच्च जीवन का जो आवश्यक कर्त्तव्य है उसे पूर्ण करो। मनुष्य बारबार इस चेतावनी को सुनता हुआ अनसुनी कर देता है और ऋत के उत्तरदायित्व से बचकर भागने का प्रयत्न करता है।

हरिश्चन्द्र के पुत्र नहीं हुआ। क्यों? उसके कर्मों के कारण अथवा यों कहें कि ऋताधिपति वरुण के कारण। वह वरुण के पास गया। मुझे जो पुत्र होगा उससे तुम्हारा यजन करूँगा। वरुण ने कहा—तथास्तु। पुत्र हुआ। वरुण ने कहा—लाओ। हरिश्चंद्र ने कहा—अभी दस दिन का नहीं हुआ, नाम भी नहीं पड़ा। दस दिन का हो ले तब यज्ञ के योग्य होगा। वरुण ने कहा—अच्छा। पुत्र दस दिन का हो गया। वरुण ने कहा—अब यजन करो। हरिश्चंद्र ने कहा—अभी दाँत भी नहीं निकले। दाँत निकल आने दो तब यजन करूँगा। वरुण ने कहा—अच्छा। उसके दाँत निकल आए। तब वरुण फिर पहुँचा—अब लाओ। हरिश्चंद्र ने कहा—अभी निरा पशु है। जब दूध के दाँत गिर जायँगे तब यज्ञीय होगा। वरुण ने कहा—अच्छा। उसके दूध के दाँत भी गिर गए। वरुण ने कहा—अब लाओ। हरिश्चंद्र ने कहा—जब नये दाँत जम आएँगे तब मेध्य होगा। वरुण ने कहा—अच्छा। उसके नये दाँत भी जम आए। वरुण ने फिर टोका—नये दाँत निकल आए, अब लाओ। हरिश्चंद्र ने कहा—यह क्षत्रिय का बालक है। क्षत्रियपुत्र जब कवच पहनता है तब काम में आने लायक होता है। कवच पहनने दो तो यजन करूँ। वरुण ने कहा—अच्छा। वह कवचहर हो गया। वरुण ने हरिश्चंद्र को छेका—कवचहर हो गया, अब यजन करो। हरिश्चंद्र ने कहा—अच्छा कल आना। इस प्रकार कल-कल करते हुए हरिश्चंद्र ने नियति से बचने के लिए उस पुत्र को जंगल में भगा दिया। अब वरुण के उग्र नियमों ने हरिश्चंद्र को पकड़ा। उसे जलधर हो गया। उसने अपने कष्ट से बचने के लिए अजीगर्त के पुत्र शुनःशेप को ख़रीदकर वरुण की भेंट करना चाहा। शुनःशेप यज्ञ-स्तम्भ में बाँध दिया गया। अपने परित्राण का कोई उपाय न देखकर और मृत्यु को सामने निश्चित आई हुई जानकर वह वरुण की शरण में जाता है—हे वरुण, हम मनुष्य हैं, इसी से यह सम्भव है कि हमसे तुम्हारे व्रतों का प्रतिदिन उल्लंघन होता रहा हो। हे देव! अनजान में जो हमने ऋत के पालन में त्रुटि की हो उसके कारण हमें वधिक मृत्यु की यन्त्रणा न सहनी पड़े। हे सम्राट्! तुम ही हमारे इन त्रिविध पाशों को दूर कर सकते हो। तुमने ही सूर्य के विचरने के लिए विपुल मार्ग कल्पित किया है। तुम ही मानव के लिए ऋजु मार्ग का प्रदर्शन करते हो। साधु-भाव के द्वारा मैं ऋत के पथ का अनुसरण करता हूँ। जो दुष्कर्मों में लीन हैं वे ऋत के मार्ग के उस पार कभी नहीं पहुँच पाते—

ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृतः।

शुनःशेप प्राण का प्रतिनिधि है। प्रत्येक प्राणी प्राण का प्रकट चिह्न है। श्वा प्राण को कहते हैं। उसका जो शेप या चिह्न है वही शुनःशेप है। यों तो विराट प्राण सर्वत्र व्यापक है, पर वही चींटी से लेकर मनुष्य पर्यन्त शरीरों में स्फुट या प्रकट हो रहा है। मनुष्य-जीवन के लिए ऋत के ज्ञान का नैतिक फल क्या है, यही बताना शुनःशेप उपाख्यान का प्रयोजन है। दार्शनिक ज्ञान वही सच्चा है जिससे मनुष्य के नैतिक जीवन का, उसके सुकर्म और दुष्कर्मों का, नियन्त्रण हो सके। भारतीय दार्शनिकों ने इसी दृष्टि को प्रधान रक्खा है।

बुद्ध भगवान् ने अपनी अखंड समाधि में प्रज्ञा के नेत्रों से जिस विश्व-व्यापी महान् 'धम्म' का साक्षात्कार किया वह भी सृष्टि का उपरोक्त नियम है। प्राचीन ऋत का ही नामान्तर 'धम्म' है। धम्म या धर्म का मनुष्य के नैतिक जीवन के साथ संबंध ही कम्म या कर्म है। धर्म और कर्म इन्हीं दो पहियों से मानव जीवन का रथ गतिशील रहता है।

पृ

की कहानी

पाताल का पानी—एक आभ्यंतरिक धारा का दृश्य

धरातल से १०० फ़ीट नीचे धरती के नीचे ही-नीचे चट्टानों को खोखला कर कंदराएँ और मार्ग बनाते हुए बहनेवाला यह पाताली सोता आगे जाकर खुली जगह में निकल आता है। गुफ़ा की छत में जल की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बने हुए चूने के विचित्र लटकते पिण्ड दिखाई दे रहे हैं।

आभ्यन्तरिक जल और उसकी क्रिया

कुओं, झरनों, सोतों आदि के जल की कहानी—कन्दराओं, कन्दरापिण्डों की रचना

वर्षा के द्वारा जल सागर से धरातल पर आता है। वर्षा का जितना जल भूपटल पर गिरता है उसके तीन भाग हो जाते हैं। एक अंश तो वायुमण्डल ही में मिल जाता है। दूसरा और अधिकांश भाग नदियों के द्वारा प्रवाहित होकर फिर सागर में जा मिलता है। धरती के ऊपर बहनेवाले पानी के अतिरिक्त जो जल भाप बनकर वायुमण्डल में मिल जाने से बच जाता है वह धरती के भीतर समा जाता है अर्थात् उसको धरती सोख लेती है। जल का कितना अंश धरती में सोख जाता है, यह बहुत कुछ मिट्टी की बनावट पर निर्भर है। यदि धरती की चट्टानों की बनावट ऐसी होती है कि उसमें जल जल्दी सोख जाय, अर्थात् चट्टानें अधिकांश छिद्रमय होती हैं, तो वर्षा का बहुत बड़ा भाग धरती में सोख जायगा। परन्तु जहाँ की धरती की बनावट ऐसे पदार्थों से होती है, जो अभेद्य (impermeable) होते हैं अर्थात् उनमें पानी सरलता से नहीं धँस सकता, वहाँ वर्षा का बहुत थोड़ा भाग धरती में सोखता है। संयुक्तप्रान्त की धरती नदियों की लाई हुई मिट्टी से बनी है। इस कारण वर्षा का लगभग दो-तिहाई जल धरती सोख लेती है। पथरीली भूमि और चिकनी मिट्टी के भीतर पानी कठिनाई से धँसता है, परन्तु बलुई मिट्टी और खड़िया के भीतर वह सरलता से सोख जाता है।

ऊपर से सोखा हुआ जल नीचे जाकर, जहाँ उसे पानी के न सोखनेवाली तह मिलती है, भर जाता है। इस प्रकार सोखनेवाली भूमि तो एक स्पञ्ज का काम देती है और न सोखनेवाली अर्थात् अभेद्य चट्टान एक तालाब के तल का, जिसके नीचे सूखी भूमि रहती है और ऊपर पानी की जलराशि भरी रहती है। यही 'आभ्यन्तरिक जल' (underground water) कहलाता है। इसका ऊपरी तल, अर्थात् जहाँ इस जल का स्थायी अस्तित्व मिलता है, आभ्यन्तरिक जलतल कहलाता है। आभ्यन्तरिक जल का तालाब ऐसा नहीं है, कि उसमें आप गोता लगाकर स्नान कर लें। वरन् यह इस जलतल के नीचे और अभेद्य चट्टानों के ऊपर जो चट्टानें रहती हैं उनके भीतर भरा रहता है। अर्थात् जलतल और अभेद्य चट्टानों के बीच की भेद्य चट्टानें जल से ओत-प्रोत, या सम्पृक्त (saturated) रहती हैं। इन सम्पृक्त चट्टानों में यदि कोई ख़ाली स्थान होता है तो उसमें जल अवश्य ही तालाब की भाँति भर जाता है और उसमें आप गोता भी लगा सकते हैं, यदि वह पर्याप्त गहरा हो।

जब हम भूमि में कुआँ खोदते हैं तब हमें उस समय तक पानी नहीं मिलता जब तक हम आभ्यन्तरिक जलतल या जलरेखा तक नहीं पहुँचते। ज्योंही जलरेखा से नीचे की चट्टानों में कुएँ का छेद पहुँचा और स्थान ख़ाली मिला, चारों ओर की चट्टानों का जल उस रिक्त स्थान में भर जाता है। तभी हम कहते हैं कि हमें स्थायी तल या सोत मिल गया। जब तक यह तल नहीं मिल जाता तब तक कुआँ खोदना सार्थक नहीं होता। बहुधा ऐसा होता है कि वर्षा ऋतु में किसी-किसी स्थान में थोड़ी ही गहराई पर जल निकल आता है। परन्तु यह जलतल अस्थायी होता है और थोड़े ही दिनों में ग्रीष्म ऋतु के आने के पूर्व ही कुआँ सूख जाता है। कारण यह होता है कि इस कुएँ की गहराई जलतलरेखा तक नहीं पहुँची और जो पानी इसमें निकला वह वर्षा का जल था, जो धरती के ऊपर ही-ऊपर की चट्टानों में पाया जाता है और अस्थायी होता है। यह जल नीचे जाकर अब आभ्यन्तरिक जल के साथ मिल जाता है तब स्थायी जलरेखा बनाता है। इस अस्थायी जल को अँगरेजी में 'वैडोज' जल कहते हैं।

आभ्यन्तरिक जल एक ही स्थान पर स्थिर नहीं रहता। वास्तव में इस जल को धारा के नाम से पुकारना ही उचित है, क्योंकि इसकी गति तथा इसकी क्रिया लगभग उसी प्रकार होती है जिस प्रकार धरातल के

आस-पास थोड़े ही अन्तर पर कुआँ की गहराई बहुत अधिक होती है। इसके विपरीत यदि अभेद्य चट्टान का विस्तार 'पाताल' के नीचे तक होता है, तो वहाँ कुआँ खोदने पर आस-पास की भूमि से बहुत अधिक गहराई पर भी पानी नहीं निकलता।

आभ्यन्तरिक जल आकर्षण-शक्ति के कारण जहाँ तक हो सकता है, ऊपर से नीचे की ओर जाने की कोशिश करता है। इसके सिवा ऊपरी जल की तरह यह भीतर-ही-भीतर ऊँचे ढाल से नीची भूमि की ओर बहता है। इस प्रकार पहाड़ी ढाल का पानी धाराओं में पहुँच जाता है। सछिद्र चट्टानों में ऊँचे ढाल से नीचे ढाल की ओर यात्रा करते-करते कभी-कभी इसके मार्ग में चिकनी मिट्टी या अन्य छिद्रहीन या अभेद्य चट्टानें आ जाती हैं। इसलिए यह धीरे-धीरे ढाल की ओर रेंगता है, क्योंकि अभेद्य चट्टानों में पानी भिद नहीं पाता है। ढाल के रास्ते में यदि कोई दरार मिल जाती है तो जल उसके द्वारा बाहर धरातल पर आ जाता है और इस प्रकार झरनों की रचना होती है। दरार में से पानी निकलने का वेग पानी लानेवाली 'जल वाहक' (aquiferous) चट्टान के ढाल पर निर्भर होता है। यदि बहुत ऊँचाई से पानी बहकर नीचे आता है तो झरनों का वेग भी तीव्र होता है। कभी झरनों से निकलनेवाला पानी फौव्वारों के रूप में बहता है। यह जल खनिज पदार्थों से होकर आता है, इसलिए इसमें खनिज पदार्थों के घुलनशील अंश घुल जाते हैं, जिससे जल में विभिन्न खनिजों के गुण समा जाते हैं। सेराटोगा, न्यूयार्क, कार्लस-बाद, बाथ (इँगलैंड), विशी (फ्रांस) आदि स्थानों में इस प्रकार के खनिज गुण-सम्पन्न जलाशय पाये जाते हैं, जो प्राकृतिक रूप से धरती में निकले हुए जल से भरे रहते हैं। भारतवर्ष में भी मुंगेर, विन्ध्याचल, देहरादून आदि अनेकों स्थानों पर इस प्रकार के झरनों का जल बड़ी स्वच्छता और श्रद्धा से पिया जाता है।

पातालतोड़ कुएँ या आर्टीज़न वेल

कभी-कभी ऐसा होता है कि दो अभेद्य तहों के बीच में एक सम्पृक्त भेद्य तह पाई जाती है। जब इन तहों की रचना कमान के समान होती है और सब भेद्य तहों की खुली मुँडेरों (outcrops) पर पर्याप्त वर्षा होती है तब सारी तह पानी से भर जाती है। इन तहों में से पानी निकलने का कोई प्राकृतिक मार्ग न होने से यदि ढाल की गहराई में कोई कुआँ खोदा जाय, तो दोनों ओर की चट्टानों में भरे जलभार (waterheads) के कारण बीच के छेद में से होकर पानी तेजी से फौव्वारे की भाँति ऊपर उछलेगा। जिन प्रदेशों में चट्टानों की बनावट ऐसी होती है वहाँ जल निकलने के लिए यही उपाय काम में लाया जाता है। ऐसे कुओं को पातालतोड़ कुआँ या आर्टीज़न वेल (Artesian Well) कहते हैं। भारत में इस प्रकार के कुएँ अधिक नहीं हैं, तथापि क्वेटा, बरमारी, गोरखपुर, माही, रावलपिंडी, पांडिचेरी आदि स्थानों में इस प्रकार के कुएँ बनाये गये हैं। हिमालय की तलहटी के प्रदेश में भी इस प्रकार के कुएँ सफलतापूर्वक बन सकते हैं। आजकल लोग बहुधा उन सब कुओं को 'पातालतोड़ कुआँ' कहते हैं जिनमें कई सौ या कई हजार फीट की खुदाई पर पानी निकलता है। इनमें से अधिकांश का जल पम्प के द्वारा ऊपर लाया जाता है। पर ऐसे कुओं को वास्तव में पातालतोड़ कुआँ नहीं कहा जा सकता।

पातालतोड़ कुआँ के लिए कहीं-कहीं बहुत अधिक खुदाई करनी पड़ती है। बर्लिन, सेंट लुई और पिट्सबर्ग में ६००० फीट की गहराई पर पानी निकला है, परन्तु अटलांटिक महासागर के तट के प्रदेशों में अधिकांश स्थानों पर १०० से ३०० फीट की गहराई पर ही जल प्राप्त हो जाता है। किसी-किसी कुएँ से निकलनेवाले जल की मात्रा भी बहुत अधिक होती है। फ्लोरिडा में सेंट अगस्टीन नामक स्थान के एक कुएँ से १४०० फीट की

क और ख रुके हुए जल भंडार हैं, जो बेधुरी अभेद्य चट्टानों के कारण नीचे जा नहीं सके हैं। दाहिनी ओर का कुआँ खोदने से थोड़ी ही गहराई पर ही जल प्राप्त हो गया है। बाईं ओर अभेद्य तह आ जाने के कारण गहरा कुआँ खोदने पर भी जल नहीं प्राप्त होता। ग झरना बनता है।

गहराई से १०,०००,००० घड़े जल प्रतिदिन निकलता है। एक ही स्थान पर पास-पास कई कुएँ खोदने से जल के निकलने के वेग और मात्रा दोनों ही में कमी पड़ जाती है।

आभ्यन्तरिक जल द्वारा चट्टानों की रचना में उलट-फेर

आभ्यन्तरिक जल चट्टानों के भीतर होकर बहता है, इसलिए चट्टानों के बहुत-से खनिजों को घुलाकर तथा बहाकर ले जाता है। बहाये हुए पदार्थों का कुछ अंश दूसरी चट्टानों में जाकर जमा हो जाता है तथा कुछ जल में घुल जाता है और जल के साथ साथ यात्रा करता है। आभ्यन्तरिक जल द्वारा भी इस प्रकार के तीनों महत्त्वपूर्ण कार्य होते हैं, जो अन्य भूतत्त्विक कार्यकर्त्ता करते हैं—अर्थात् घुलाकर या रगड़कर चट्टानों को विनष्ट करना, विनष्ट चट्टान के अंशों का दूसरे स्थानों पर ले जाकर जमा करना, तथा नई चट्टानों की रचना करना।

(ऊपर) ऑस्ट्रेलिया के न्यू साउथ वेल्स प्रदेश के एक पातालतोड़ कुएँ का फ़ोटो। यह १७८५ फ़ीट गहरा है और रोज़ २५ लाख गैलन पानी देता है। (नीचे) पातालतोड़ कुएँ का सिद्धान्त। छिद्रिंत तह में अ से वर्षा-जल घुसता और नीचे अभेद्य तह आ जाने के कारण ब स्थान में जमा हो जाता है। स पर कुआँ खोदने पर दबाव के मारे फ़ौव्वारे की तरह पानी बाहर निकलने लगता है।
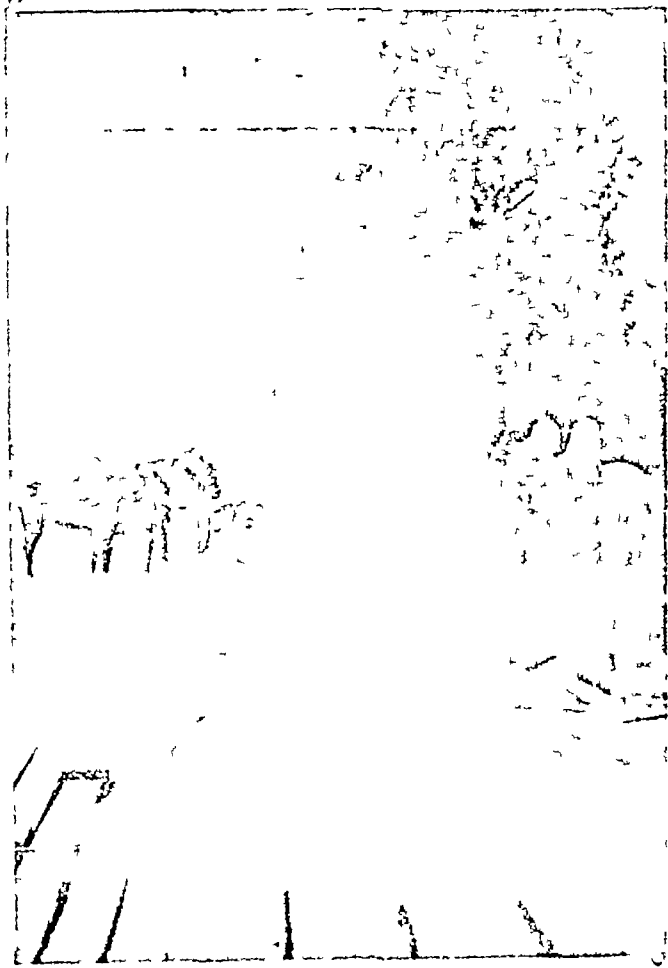
चिप्पड़ों की चट्टान में जितना भी घुल सकनेवाला अंश है, उसको आभ्यन्तरिक जल निरन्तर घुलाता रहता है। घुलाने की क्रिया का सूत्रपात उसी समय से आरम्भ हो जाता है जब से वर्षा का जल धरातल पर आता है और अपना पाताल-गमन आरम्भ कर देता है। स्वच्छ जल में क्रियाशीलता उतनी नहीं होती जितनी वर्षा के जल में, क्योंकि वर्षा के जल में विभिन्न प्रकार के अम्लादि मिले रहते हैं, जो उसे वातावरण की गैसों से प्राप्त होते हैं। भूमण्डल का १ फ़ुट मोटा पर्त प्रति ३०००० वर्ष में जल के घुलाने की प्रतिक्रिया से नष्ट होकर विलीन हो जाता है। जल की प्रतिक्रिया का कुछ हाल हम पहले ही बता चुके हैं। जल की प्रतिक्रिया का सबसे अधिक प्रभाव चूने की चट्टानों, खड़िया तथा संगमरमर आदि पर पड़ता है। ये सभी चट्टानें चूने के ही विभिन्न रूप हैं। इनकी रचना कैलसियम कार्बोनेट से होती है।

चूने की चट्टानें पृथ्वी के चिप्पड़ में बहुतायत से पाई जाती हैं और लगभग सभी स्थानों पर लाखों मील का क्षेत्रफल इन्हीं चट्टानों से घिरा है। कार्बन-डाइ-ऑक्साइड मिश्रित जल की इन चट्टानों पर तीव्र प्रतिक्रिया होती है और इस प्रकार की प्रतिक्रिया से इन चूने की चट्टानें

घोल घुल जाती है। जिन प्रदेशों में वर्षा बहुत अधिक होती है और जल सूखने नहीं पाता, वहाँ बड़ी तीव्रता से यह प्रतिक्रिया होती है। चट्टानों के घुलने से खोखली भूमि निकल आती है और इससे धरातल में बड़े बड़े गर्त (sin) उत्पन्न हो जाते हैं। ये गर्त धरती के धँसकने से उत्पन्न होते हैं। जल की प्रतिक्रिया से धरती के भीतर अदृश्य रूप से चट्टानें घुलती रहती हैं और पर्त-के-पर्त घुलकर सफाचट हो जाते हैं, परन्तु पानी की प्रतिक्रिया बढ़ती ही जाती है। इन गर्तों में वर्षा ऋतु में जल भर जाता है और कभी-कभी बड़ी तेजी से विलीन होता जाता है। कभी कभी नदी की धारा के नीचे ऐसे गर्त उत्पन्न होने की नौबत आ जाने से पूरी धारा का प्रवाह उसी गर्त में होने लगता है और नदी की आगे की धारा का अन्त हो जाता है। ये धाराएँ धरातल से विलुप्त होकर [illegible] की चट्टानों के भीतर-ही-भीतर बहती हुई 'आभ्यन्तरिक जल-धारा' या 'पातालो नदियों' के रूप में सागर तक भी पहुँच जाती हैं।

कार्लसबाद की सुप्रसिद्ध गुफा का एक दृश्य
इन गुफाओं और इनमें बने हुए अद्भुत पाषाण स्तम्भ का निर्माण आभ्यन्तरिक जल की चूने के पत्थर पर प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ है।

दृढ़ और अच्छी परतीली चट्टानों में पानी पर्तों के जोड़ों से होकर नीचे उतरता है और दो तहों के बीच में फैलता है। यदि तहों के बीच में संधिस्थल पर इस जल के प्रवाह के लिए उपयुक्त स्थान मिल जाता है तो उसकी प्रतिक्रिया के लिए अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है। जहाँ जल का वेग अधिक होता है, वहाँ के जोड़ अधिक शीघ्रता से घुल जाते हैं और संधिस्थल अधिक चौड़े हो जाते हैं। नीचे उतरते-उतरते जल का वेग कम हो जाता है और इसमें घुले रासायनिक पदार्थ भी क्षीण हो जाते हैं। इसलिए जल की प्रतिक्रिया इतनी तीव्र नहीं होती। फलस्वरूप धरती के भीतर जो खोखला स्थान उत्पन्न होता है, वह ऊपर तो चौड़ा और नीचे सुराही की गरदन की भाँति पतला होता जाता है और गर्त का आकार उल्टी सुराही का-सा हो जाता है। इस प्रकार के गर्त कई इंच से कई हजार फ़ीट लम्बाई-चौड़ाई तक के भी होते हैं।

धरातल के भीतर जल की प्रतिक्रिया से बने कुण्ड या गर्त का धरातल पाताल की जल-रेखा से नीचे होता है तो उस प्रदेश में जल-तल जब तक उसी रेखा पर रहेगा तब तक कुण्ड में जल बना रहेगा। यदि किसी कारण से जल-तल नीचा हो जाता है तो कुण्ड भी सूख जाता है। कभी-कभी कुण्डों का भूमितल चिकनी तथा छिद्र-हीन मिट्टी और लता-वृक्षों की पत्तियों आदि से ढक जाता है और जल का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। जल नीचे रिस नहीं पाता। यदि अचानक ऐसे कुण्डों की तली में पानी रिसने का मार्ग हो जाता है तो सब पानी जादू की भाँति अदृश्य हो जाता है। इस तरह कभी-कभी जल-भरी झीलें अचानक ही सूख जाती हैं।

कन्दराएँ और गुफाएँ

धरातल के नीचे जल की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुए खोखले स्थान की छत की चट्टान यदि कड़ी और मोटी होती है तो वह धँसती नहीं, परन्तु रिक्त स्थान

की लम्बाई-चौड़ाई बराबर बढ़ती ही जाती है। इन रिक्त स्थानों में अगल-बगल गलियों की भी रचना आरम्भ हो जाती है और कभी-कभी ये इतनी लम्बी-चौड़ी हो जाती हैं कि जैसे गढ़कर बनाई गई हों। इन रिक्त स्थानों को कन्दरा या गुफ़ा के नाम से पुकारते हैं। चूने की चट्टानों के प्रदेश में इन गुफ़ाओं की बहुतायत होती है। ये गुफ़ाएँ प्राकृतिक होती हैं, गढ़कर नहीं बनाई जातीं। १००-२०० फ़ीट से लेकर आठ-दस मील तक लम्बी और दो-तीन मील तक की चौड़ाई की गुफ़ाएँ पाई गई हैं। इनकी गहराई भी दस-पाँच फ़ीट से लेकर १०००—१२०० फ़ीट तक पाई गई है। अमेरिका में केन्टुकी की गुफ़ाएँ प्रसिद्ध हैं। यहाँ की एक गुफ़ा की लम्बाई ८ मील से भी अधिक है तथा इसके भीतर छोटे-छोटे कक्ष अलग हैं, जिनकी ऊँचाई ७५ फ़ीट और चौड़ाई १५० फ़ीट से कम नहीं है। न्यू मेक्सिको की कार्लबाद नामक स्थान की गुफ़ा में भी एक कक्ष आधा मील लम्बा, २०० फ़ीट चौड़ा तथा १००० फ़ीट गहरा है। इन गुफ़ाओं में कभी-कभी जल की धाराएँ बहती पाई जाती हैं, जो चट्टानों की निरन्तर उसी प्रकार काट-छाँट किया करती हैं जिस प्रकार स्थल की धाराएँ। इन कन्दराओं का उपयोग आजकल हिंसक जीव ही अधिक करते हैं, परन्तु पुरातन काल में मनुष्य भी अपने निवास के लिए इनका उपयोग करता था। आजकल भी अनेकों स्थान पर मनुष्य का निवासस्थान कन्दरा ही है। बहुत-सी कन्दराओं में पुरातन मनुष्य के स्मारक अवशेष आदि पाये जाते हैं।

कार्लबाद की सुप्रसिद्ध गुफ़ा का एक और दृश्य

ऊपर से 'स्टेलैक्टाइट' नामक पाषाण-स्तंभ लटक रहे हैं।

कन्दराओं में पिण्डरचना

आभ्यन्तरिक जल की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कन्दराओं में छत से लटकते हुए Stalactites तथा भूमि से उठे हुए Stalagmites नामक विचित्र पिण्ड बनते रहते हैं। इन पिण्डों की रचना आभ्यन्तरिक जल में घुले हुए पदार्थों के अवक्षेपण (Precipitation) से होती है।

जलमण्डल की नदियाँ या समुद्रजल की धाराएँ

हम पहले बता चुके हैं कि सागर के जल में नीचे-ऊपर की गति तथा हवा के झकोरों से तरगों की गति तो होती ही रहती है, तथापि सीधी दिशाओं में वेग से धारा-प्रवाह भी होता रहता है। सम्पूर्ण सागर में सर्वत्र धाराओं की-सी गति नहीं है। महाद्वीपों को घेरते हुए सागर के भागों में नदियों की धारा की भाँति पचासों मील के पाट में सागर में धाराएँ बहती हैं। विशाल विस्तृत जल के फैलाव के भीतर ऐसी धारा साफ़ दिखाई देती है और उसके दोनों किनारे भी साफ़ अलग-अलग मालूम पड़ते हैं। ये धाराएँ निश्चित मार्गों द्वारा निरन्तर सागर के एक भाग से दूसरे भाग की ओर बहती हैं और घूम-फिरकर लौटकर फिर उसी चक्र में पड़ जाती हैं। इनके प्रवाह का वेग धरातल की धाराओं की अपेक्षा तीव्र होता है और इनकी चौड़ाई और गहराई भी धरातल की धाराओं की अपेक्षा कई गुनी होती है।

इन धाराओं का उपयोग पुराने जमाने मे नाविक लोग जहाज चलाने में करते थे। धारा के प्रवाह में पड़कर जहाज सुगमता से आगे बढ़ता था। परन्तु सबसे अधिक महत्त्व इन धाराओं का धरातल की जलवायु पर पड़ता है। इन्हीं धाराओं के कारण धरातल के एक ही अक्षांश के प्रदेशों की एक ही ऋतु और समय में विभिन्न जलवायु होती है।

धाराओं का जन्म

सागर के जल के भीतर इन धाराओं का जन्म दो कारणों से होता है। स्थल से आबद्ध सागरों मे जल की खारीपन की विभिन्नता जल में प्रगति उत्पन्न करती है। परन्तु महासागरों में इन धाराओं का जन्म धरातल के विभिन्न स्थलो पर असमान गर्मी पड़ने से होता है।

जल के खारीपन की विभिन्नता से जो प्रगति उत्पन्न होती है, उसका कारण यह है कि जल जितना ही अधिक खारी होता है, उतना ही भारी होता है और इसलिए सागर में अधिक खारी पानी तली में बैठता है और कम खारी पानी ऊपर रहता है। भूमध्यसागर का ऊपरी तल, अधिक भाप बनने और नदियों द्वारा बहुत कम जल लाने से, खुले हुए अटलांटिक महासागर के ऊपरी तल से नीचा होता रहता है। इसलिए अटलांटिक महासागर से जल का प्रवाह भूमध्यसागर की ओर जिब्राल्टर-प्रणाली द्वारा होता रहता है। इस पानी के आ जाने का फल यह होता है कि भूमध्यसागर का अधिक भारी पानी नीचे बैठ जाता है और नीचे-नीचे इसकी एक धारा जिब्राल्टर-प्रणाली ही के द्वारा अटलांटिक की ओर बढ़ती है, जिससे समघनत्व स्थापित हो जाय। इसके विपरीत कृष्णसागर में नदियों द्वारा बहकर आनेवाले जल की मात्रा अधिक होने से इसका तल भूमध्यसागर के जलतल से ऊँचा रहता है। इसलिए इस सागर से भी हल्का पानी भूमध्यसागर की ओर ऊपर-ऊपर बहकर आता है। यहाँ से अधिक खारी और भारी पानी नीचे तली में बहता हुआ कृष्णसागर में पहुँचता है। इसी प्रकार लालसागर में ऊपरी पानी हिन्द-महासागर की ओर से आता है, परन्तु तली के जल का प्रवाह लालसागर से हिन्दमहासागर की ओर रहता है।

बाल्टिक सागर में अनेको नदियाँ अपार जल लाती हैं। उच्च अक्षांशों में शीत के कारण भाप कम बनने से इस सागर का जलतल सदैव ऊँचा रहता है। इसलिए इसका ऊपरी जल स्केगर रैक के मार्ग से उत्तरी सागर में पहुँचता है, पर तली के जल का प्रवाह विपरीत दिशा में होता है।

महासागरों की धाराएँ

महासागरो में धाराओं के जन्म का प्रधान कारण भूमध्यरेखा के आस-पास की भीषण गर्मी और ध्रुव-प्रदेशो में पड़नेवाली शीत है। गरमी के कारण भूमध्यरेखा के आस-पास का जल गरम होकर फैलने लगता है। गरम पानी ठण्डे पानी की अपेक्षा हल्का होता है। इस कारण जैसे-जैसे गर्मी बढ़ती जाती है, पानी अधिक हल्का होता जाता है और ऊपर के तल में फैलता जाता है। जब ऊपर के तल का पानी इधर-उधर फैलता है, तब नीचे का

पानी उसके स्थान पर आ जाता है और वह भी अपने समय पर गरम होता है और जिस ओर प्रवाह पाता है, उस ओर बह जाता है। प्रवाह का मार्ग उस ओर को होता है जिस ओर का पानी भारी होता है और इस जल के नीचे बैठता जाता है। ठण्डा पानी इस जल की अपेक्षा भारी होता है। ध्रुव-प्रदेशों का जल अधिक शीत के कारण ठण्डा होता है और भूमध्यप्रदेशों के जल की अपेक्षा बहुत भारी होता है। इस कारण भूमध्यप्रदेशों का जल गरम होकर ध्रुवप्रदेशों की ओर प्रवाहित होता है, क्योंकि वहाँ का जल ठण्डा होकर तली की ओर बैठता है। जब भूमध्यप्रदेशों के जल का प्रवाह ध्रुवों की ओर होता है, तब विषुवत् रेखा के आस पास की जल की कमी को पूरा करने के लिए हलके पानी के ऊपर उठते ही भारी पानी उसकी जगह लेने दौड़ता है। भारी पानी ध्रुवप्रदेशों से आता है। भारी होने के कारण इसका प्रवाह तली ही में होता है। इस प्रकार गरम जल की धारा भूमध्यप्रदेशीय सागरों से ध्रुवों की ओर के जल के ऊपर-ऊपर बहती है और ठण्डे जल की शीतल धारा तली-ही-तली में ध्रुवप्रदेशों से भूमध्यप्रदेशीय सागरों की ओर आती है। इन धाराओं के प्रवाहमार्ग को बनाने में सागर के जल के खारीपन की असमानता का भी प्रभाव पड़ता है। सागर के सभी स्थानों का खारीपन एक सा नहीं होता। जल का प्रवाह इस असमानता को मिटाने का भी होता है।

पृथ्वी का आवर्तन समुद्री धाराओं की दिशा उसी प्रकार बदल देता है जिस प्रकार पवन की। उत्तरी गोलार्द्ध में यदि धारा विषुवत् रेखा की ओर बहती होती है तो यह दाहिने हाथ की ओर घूम जाती है। यदि धारा का प्रवाह ध्रुवों की ओर होता है तब भी इसको दाहिनी ओर को घूमना पड़ता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में इसके विपरीत धाराओं का प्रवाह बाईं ओर को होता है।

यदि धारा के प्रवाहमार्ग में कोई अड़चन (समुद्र-तट आदि) पड़ जाती है तो यह उस मार्ग से आगे नहीं बढ़ पाती। उस स्थान पर या तो इसको विपरीत दिशा की ओर घूमना पड़ता है अथवा कई भागों में बँट-कर किनारों के साथ-साथ आगे बढ़ना पड़ता है।

पृ० १०९१ पर दिए समुद्री धाराओं का मानचित्र देखने से ज्ञात होगा कि विषुवत् रेखा के उत्तर के तीनों समुद्रों में धाराओं के प्रवाह की दिशा घड़ी की सुइयों की घूमने की दिशा की भाँति होती है। केवल हिन्दमहासागर में उत्तरी पूर्वी मानसून पवन के चलने के समय इसके विप-रीत धाराप्रवाह होता है। विषुवत् रेखा के दक्षिण में तीनों सागरों में धारा का प्रवाह घड़ी की सुइयों के विपरीत होता है। दक्षिणी समुद्र में पछुआ हवाओं के कारण धाराओं का प्रवाह भी पश्चिम से पूरब की ओर होता है।

अटलांटिक महासागर की धाराएँ

अटलांटिक महासागर में दो धाराओं का जन्म होता है। एक विषुवत् रेखा के उत्तर में जो उत्तरी विषुवत् धारा है और पूर्व से पश्चिम की ओर चलती है। दूसरी भूमध्यरेखा के दक्षिण में जो दक्षिणी विषुवत् धारा कहलाती है और दक्षिण पूर्व से भूमध्यरेखा की ओर आती है। ये दोनों धाराएँ एक दूसरे से अधिक दूर नहीं रहतीं, परन्तु भूमध्यरेखा के पास दोनों दो विपरीत दिशाओं में मुड़ जाती हैं।

उत्तरी विषुवत् धारा (North Equatorial Current) अटलांटिक महासागर में अफ्रीका के पश्चिमी तट के पास से प्रवाहित होकर अटलांटिक के पार बहती हुई दक्षिणी अमरीका के पूर्वीय तट के उत्तरी भाग की ओर जाती है। पश्चिमी द्वीपपुञ्ज के पास इसके दो भाग हो जाते हैं। अधिकांश भाग इस द्वीपसमूह के उत्तर में फ्लोरिडा की ओर बह जाता है। दूसरा भाग द्वीपों की ओर भीतर होता हुआ मेक्सिको की खाड़ी में चला जाता है और वहाँ जल की अधिकता के कारण लौट पड़ता है। इसी मेक्सिको की खाड़ी में गरम नदी या 'गल्फस्ट्रीम' (Gulf Stream) का जन्म होता है। गल्फस्ट्रीम नामक गरम और तीव्र वेगवती धारा दो धाराओं के मेल से उत्पन्न होती है। दूसरी धारा का हाल हम आगे बताएँगे।

गल्फस्ट्रीम एक मील के लगभग चौड़ी धारा है, जो पाँच मील प्रति घंटे के वेग से बहती है। यह मेक्सिको की खाड़ी से चलकर अत्यन्त नमकीन गरम पानी की नदी के रूप में फ्लोरिडा के डमरूमध्य से होकर निकलती है और अमेरिका के तट को छोड़कर पूरब की ओर बल खाती हुई अटलांटिक महासागर में फैल जाती है। यहाँ इस धारा का जल ठण्डा और छिछला हो जाता है और इसका नाम अटलांटिक प्रवाह (Atlantic Drift) पड़ जाता है। इसको पछुआ हवाएँ बहा ले जाती हैं। इसकी शाखायें उत्तर की ओर फैल जाती हैं और नार्वे के तट को छूती हुई, हिमसागर की ओर, ब्रिटिश द्वीपसमूह का चक्कर लगाती है। मुख्यधारा दक्षिण की ओर घूम जाती है और स्पेन तथा अफ्रीका के तट को छूता हुआ फिर उत्तरी विषुवत् धारा में कनारी द्वीपों से कुछ दूर पर मिल जाता है। यहाँ से इस पानी की यात्रा फिर उल्लिखित मार्ग पर

आरम्भ होती है। इस प्रकार उत्तरी अटलांटिक में इसका वृत्त पूरा हो जाता है।

गल्फ़स्ट्रीम और अटलाटिक धाराएँ बड़ी महत्वपूर्ण धाराएँ हैं। इनके द्वारा गरम प्रदेशों से गरम जल का असीम स्रोत शीतल प्रदेशों की ओर बह जाता है। गल्फ़-स्ट्रीम की गरमी लगभग उतनी ही है जितनी सम्पूर्ण भारतवर्ष में सूर्य से आती है। यद्यपि इसका गरम पानी स्वय योरोप के तट तक नहीं पहुँच पाता तथापि इसके ऊपर से बहनेवाली पछुआ और दक्षिण-पश्चिम की हवाएँ इसकी गरमी पर्याप्त मात्रा में ब्रिटिश द्वीपसमूह तथा योरोप के अटलाटिक सागरवाले तट तक पहुँचा देती है। यह गरमी अटलाटिक के उष्ण प्रदेशों की गरमी है, जो धारा के ऊपर बहनेवाली हवाएँ इन प्रदेशों में पहुँचा देती हैं। इन धाराओं के अभाव में योरोप की जलवायु में महान् अन्तर पड़ जाता। योरोप की शीत को इन धाराओं ही ने काफ़ी हल्का कर रक्खा है।

उत्तरी अटलाटिक महासागर में एक और धारा बहती है जिसका जल बड़ा शीतल होता है। यह धारा भूमध्यरेखा की ओर जानेवाले गरम पानी का स्थान भरने के लिए आर्कटिक सागर की ओर से बैफ़िन-बे (Baffin's Bay) के मार्ग से आती है। इसका नाम लब्राडर धारा (Labrador Current) है। लब्राडर धारा लब्राडर के तट के समीप से होती हुई अपनी दाहिनी ओर में स्थित होनेवाले उत्तरी अमरीका के तट को छूती हुई बहती है। स्थल-तट और गल्फ़स्ट्रीम के मध्य में इसका प्रवाह मार्ग है। न्युफ़ाउण्डलैण्ड के पास यह ठण्डी धारा गरम गल्फ़-स्ट्रीम से मिलकर घना कोहरा उत्पन्न करती है। इस ठण्डी धारा के साथ प्राय. मीलों लम्बी हिमशिलाएँ (Iceberg) बरफ़ से ढके हुए ध्रुवप्रदेशों से टूट-टूटकर बह आती हैं।

इस ठण्डी धारा के फलस्वरूप लब्राडर-तट बड़ा शीतल रहता है और सेण्टलारेंस नदी मे कई महीने तक बरफ़ जमी रहती है। धरती भी बरफ़ से ढकी रहती है और जाड़े भर बरफ़ के कारण खेत बिना जोते-बोये पड़े रहते हैं। परन्तु इन्हीं दिनों इन्हीं अक्षांशोवाले योरोप के तट पर, जहाँ गरम धारा का प्रभाव रहता है, खेतीबारी में कोई अड़चन नहीं होती और न नदियों में बरफ़ जमती है।

दक्षिणी विषुवत्-धारा दक्षिण पूर्व से भूमध्य रेखा की ओर आती है। दक्षिणी और उत्तरी विषुवत् धाराओं के बीच में एक और धारा का जन्म होता है, जो प्रति-विषुवत् धारा कहलाती है। यह धारा दोनों बड़ी धाराओं की अपेक्षा निर्बल होती है और पश्चिम से पूर्व की ओर चलती है और गिनी की खाड़ी के पास पहुँचकर फिर दक्षिण की ओर जाकर दक्षिणी विषुवत् धारा में मिल जाती है। दक्षिणी विषुवत् धारा के मार्ग मे सेंट

विचित्र तने—तने-सम्बन्धी कुछ विशेष बातें

जैसा आप देख चुके हैं, पौधों की जड़ें उनमें बाहर से खाद्य रस और जल पहुँचाती हैं। आगे चलकर आप देखेंगे कि इनकी पत्तियाँ वायु से कार्बन संचित करती हैं और इन्हीं के नन्हें-नन्हे कारख़ानों में स्टार्च-जैसे अमूल्य पदार्थ की रचना होती है। फूलों से फल और बीज बनते हैं और बीजों से नवीन पौधों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पौधों के इन अंगों में काम-काज की धूम रहती है परंतु तनों और शाखों को बेगार भुगतनी पड़ती है। उन्हें अन्य अंगों को धारण करना, उनका सैकड़ों मन बोझ अपने ऊपर लिये रहना तथा जड़ों द्वारा संचित पदार्थों को पत्तियों तक पहुँचाना और उनमें उपार्जित द्रव्यों को अन्य अंगों में ले जाना पड़ता है। यही इनके मुख्य कर्त्तव्य कहे जाते हैं। इस अधम टहल के अतिरिक्त किसी-किसी पौधे के तने कुछ ऐसे काम-काज करने लगे हैं जिन्हें हम तनों के साधारण कार्य नहीं कह सकते। आवश्यकतानुसार ऐसे तनों के रूप-रूपान्तर भी साधारण तनों से पृथक् हो गये हैं। इन तनों को हम विचित्र तने कहेंगे। कर्त्तव्यानुसार इनमें अनेक परिवर्तन उत्पन्न हो गये हैं। इनके निम्नोक्त पाँच मुख्य भेद हैं—

१ लिपटने और दौड़नेवाले तने—ऐसे तने कमजोर होते हैं, परन्तु विशेष प्रकार परिवर्तित हो अन्य अंगों के आधार का काम देते हैं, २ जड़ों की भाँति रोपण और शोषण का काम करनेवाले तने, ३ बीज की भाँति पौधों की उत्पत्ति और कोठार का काम देनेवाले तने, ४ काडपत्र, पत्रीभूत या पत्रवत् तने—वे तने जो पत्तियों की भाँति हरे और प्रायः महीन होते हैं। ये साधारण पत्तियों की तरह स्टार्च-सश्लेषण का काम करते हैं।
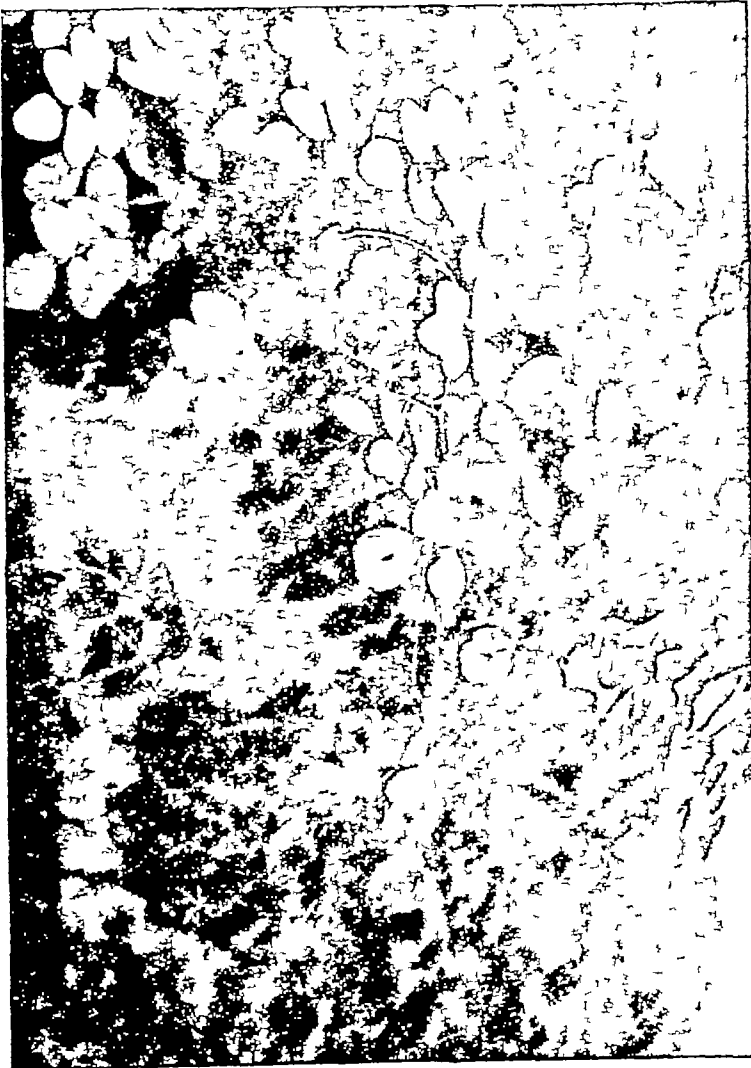
चि० १—अपराजिता या कृष्णकान्ती
(फो०—श्री० नि० रा० शर्मा)

१ लिपटने और बौंड़ने वाले तने

जैसा आपको मालूम है तना ही अन्य अंगों का आधार है। इसी के सहारे पत्ती, फूल, फल, सारे यथास्थान क़ायम हैं। फिर भी कितने ही पौधों के तने ऐसे परिवर्तित हो गये हैं जिससे इस काम में विशेष सुविधा मिल जाती है। ऐसे पौधों में सबसे बड़ी प्रधानता यह है कि विशेष मोटे और दृढ़ तनों के अभाव में भी ये प्रकाश में पहुँच जाते हैं।

बौंड़ने और लिपटनेवाले पौधे दूसरी वस्तुओं के सहारे अपने अंगों के बोझ को सँभाले रहते हैं। ऐसे पौधों में बहुत लम्बे परन्तु पतले और कमजोर तने होते हैं। इसलिए इनमें विशेष मोटे तने बनने में खाद्य रस ख़र्च नहीं होते। इसी कारण वे बड़ी तेजी से बढ़ते हैं और घने-से-घने जंगलों के अन्दर उगने पर भी थोड़े ही समय में बढ़कर बाहर प्रकाश में पहुँच जाते हैं। कद्दू, लौकी, अंगूर आदि की बेल को आपने बड़ी तेज़ी से बढ़ते देखा होगा। ऐसी बेलें शीघ्र ही बढ़कर ऊँचे से-ऊँचे पेड़ों की चोटी पर पहुँच जाती हैं, परन्तु इतनी सुविधा रहते हुए भी उन्हें नुक़सान पहुँचाने की सम्भावना है। जिन पौधों के सहारे ऐसी बेलें वायुमंडल में पसरी होती हैं यदि किसी प्रकार वे नष्ट हो जायँ, तो आश्रय न रहने से, ये बेलें भी नीचे गिर जाती हैं और उन्हें बहुत हानि पहुँचती है। कभी-कभी तो बौंड़नेवाले पौधे ख़ुद इतना जोर पकड़ते हैं कि जिन पौधों पर वे फैलते हैं उनको प्रकाश मिलना कठिन हो जाता है, जिसके कारण वे सूख जाते हैं। ऐसी दशा में भी बौंड़नेवाले पौधों का आश्रय जाता रहता है और प्रायः उन्हें बड़ी हानि पहुँचती है।

आधार के सहारे ऊपर चढ़नेवाले पौधों के चार मुख्य भेद हैं—(अ) लिपटनेवाले पौधे, (ब) सूत्रारोही या बौंड़ों के सहारे फैलनेवाले पौधे, (स) जड़ों के द्वारा चढ़नेवाले पौधे और (द) अटक-अटककर चढ़नेवाले पौधे।

(अ) लिपटकर फैलनेवाले पौधे—ऐसे पौधे आधार के चारों ओर अपनी शाखों द्वारा लिपटकर फैलते हैं। इस प्रकार की अनेक लतायें हैं, जिन्हें लोग बग़ीचों में लगाते हैं। अपराजिता या कृष्णकान्ती (चि० १), रेलवे क्रीपर, इश्क़पेचा इत्यादि इन्हीं में हैं। पोय, सेम, लोबिया, गुर्च वग़ैरह भी इसी प्रकार फैलती हैं। इन बेलों की शाखों के उस भाग में, जो आश्रय को स्पर्श करता है, बाद कुछ धीमी पड़ जाती है। इसके विपरीत उसी के सामने के बाहरी भाग में कुछ अधिक बाढ़ होने लगती है, जिससे बेल अवलम्ब की ओर झुक उससे लिपटने लगती है, और ज्यों ज्यों बेल बढ़ती है वह बराबर लिपटती जाती है। प्रकृति में प्रायः ऐसी बेलों को दूसरे पेड़-पौधों से ही सहारा मिलता है, परन्तु हमारे बाग़-बग़ीचों में वे तार और रस्सी आदि के सहारे फैलती हैं। इस काम के लिए बहुधा महीन तार और रस्सी को ही काम में लाते हैं क्योंकि अधिक मोटे आधार से ऐसी बेलें भली भाँति नहीं लिपट पातीं। एकवर्षीय लताओं के लिए तो प्रायः ८-१० इंच मोटानवाले झाड़ भी उपयुक्त नहीं होते, परन्तु बहुवर्षीय लताएँ कभी-कभी फ़ीट डेढ़ फ़ीट मोटानवाले वृक्षों से भी सुगमता से लिपट जाती हैं। भूमध्य रेखा के निकटतम घने जंगलों में उगनेवाली कोई-कोई बहुवर्षीय लताएँ दो फ़ीट मोटानवाले वृक्षों को भी आलिंगन कर ऊपर चढ़ जाती हैं। प्रारम्भ में प्रायः इन वृक्षों के तने इतने मोटे नहीं होते, फिर भी साधारण बेलें उनसे नहीं लिपटतीं, क्योंकि जिस समय वे गौण वृद्धि होने पर मोटे होने लगते हैं इन बेलों के लिए कठिन समस्या उपस्थित हो जाती है। तने का मोटान बढ़ने के कारण उन पर अन्दर से तनाव पड़ता है जिससे वे खिंचने लगती हैं और यदि कहीं वह वृक्ष तेज़ी से बढ़ता गया तो अन्त में बेल इस तनाव को सहन नहीं कर पाती और इसलिए वह सूख जाती है। इसके विपरीत यदि कहीं वह झाड़, जिससे ऐसी बेलें लिपटती हैं, कमज़ोर हुआ और ये लतायें लिपटने के बाद अधिक न बढ़ सकीं तो ऐसी दशा में झाड़, जिस समय अन्दर से बढ़ने लगता है, बेल के फंदों के सबब से पूर्ण रूप से बढ़ नहीं पाता। परिणाम यह होता है कि ऐसे झाड़ दबाव के कारण प्रायः सूख जाते हैं।

साधारण तनों की भाँति लिपटनेवाले तने भी पहले सीधे ऊपर को बढ़ते हैं। कुछ समय बाद उनका ऊपरी भाग एक ओर को झुक पड़ता है, परन्तु इनके निचले भाग सीधे बने रहते हैं। कुछ समय पश्चात् बेल के निचले भाग के आधार पर झुका ऊपरी हिस्सा चक्कर काटने लगता है। किसी-किसी पौधे में यह गति घड़ी की सुई की मानिंद होती है (चि० २), किसी में इसके विपरीत (चि० ३)। पूर्ण चक्कर करने में किसी पौधे में कम समय लगता है, किसी में अधिक। बेल के घूमते भाग को यदि किसी वस्तु का सहारा मिल गया तो वह उससे लिपटने लगता है, परन्तु यदि कोई आधार न मिला तो वह उसी प्रकार घूमता रहता है, मानों आधार की खोज में हो। यदि फिर भी कोई वस्तु पकड़ में न आई तो बेल का निचला भाग ज़मीन पर झुक पड़ता है और आगे को
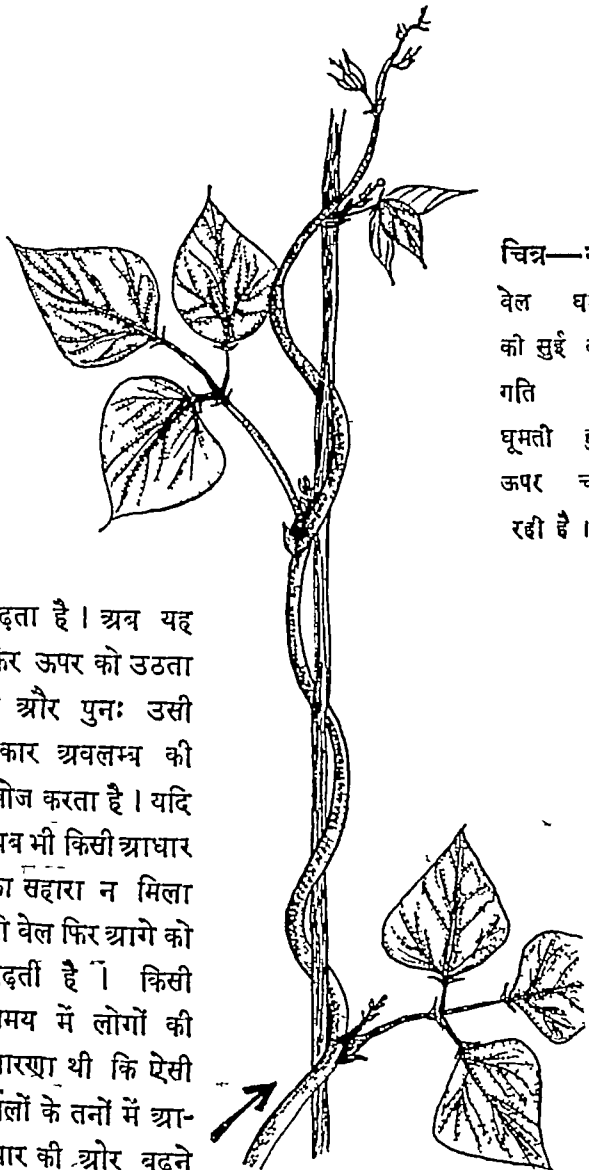
चित्र—२ वेल घड़ी की सुई की गति से घूमती हुई ऊपर चढ़ रही है।

बढ़ता है। अब यह फिर ऊपर को उठता है और पुनः उसी प्रकार अवलम्ब की खोज करता है। यदि अब भी किसी आधार का सहारा न मिला तो वेल फिर आगे को बढ़ती है। किसी समय में लोगों की धारणा थी कि ऐसी वेलों के तनों में आधार की ओर बढ़ने की विशेषता होती है, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि वेल का इस प्रकार झुकना, आगे को बढना और घूमना उसके आधार से मिलने में कारगर अवश्य होता है। अनुकूल आधार का सहारा पा वेल उसके चारों ओर लिपटने लगती है। ऐसी लताओं के लिए पतली झाड़ों से ही लिपटना लाभकर होता है। यही सबब है कि ऐसी वेलें विशेष मोटे वृक्षों से नहीं लिपटतीं।

कभी-कभी लिपटनेवाली वेलों में भाँति-भाँति के रोम, काँटे या अन्य ऐसी रचनाएँ होती हैं, जिनसे उन्हें ऊपर चढ़ने में विशेष सहारा मिलता है। जब कभी लिपटनेवाली लताओं का सहारा नहीं मिलता तो उनकी शाखें एक दूसरे से लिपट जाती हैं और इस प्रकार वे कुछ ऊँचान तक बढ़ जाती हैं। यदि कोई भी तरकीब कारगर न हुई तो वेल ज़मीन पर पड़ी रह जाती है और थोड़े समय में रोगी और कमज़ोर होने लगती है। इससे अनुमान किया जाता है कि लताओं में दूसरी वस्तुओं का स्पर्श बाढ़ को उत्तेजित करता है।

(ब) सूत्रारोही वेलें—ऐसी लतायें बौंड़ो के सहारे अवलम्ब पर फैलती हैं। बौंड़े विशेष प्रकार के अंग हैं जो पौधे के दूसरे अंगों के परिवर्तन से उत्पन्न होते हैं। साधारण मटर में ये पत्रिकाओं के रूपान्तर हैं। कुमारिका या सारसापरीला (*Smilax*) के बौंड़े पुलपत्र माने जाते हैं। अंगूर के बौंड़े (चि० ४) टहनी हैं। कद्दू, लौकी, खीरा आदि के बौंड़े भी टहनी ही माने जाते हैं। किसी-किसी पौधे में जड़ें बौंड़ने का काम देती हैं। ऐसे कुछ पौधों का जड़ों के प्रकरण में वर्णन किया जा चुका है।

प्रारम्भ में बौंड़े डोरे-सरीखे नाज़ुक और महीन होते हैं। कभी तो वे अत्यन्त कोमल होते हैं परन्तु कभी-कभी वे कुछ मोटे और दृढ़ होते हैं। प्राय. बौंड़े सादे होते हैं, परन्तु कभी-कभी उनमें कई शाखायें होती हैं। कभी-कभी बौंड़ों में किसी अंश में चेतनशक्ति होती है जिसके कारण वे आधार का स्पर्श करते ही उससे लिपटने लगते हैं और थोड़े ही समय में उसे मजबूती से जकड़ लेते हैं। आधार को पकड़ने के पूर्व बौंड़े क़रीब-क़रीब सीधे रहते हैं, परतु जैसे ही आधार का स्पर्श हुआ इनकी नोक उसके चारों ओर लिपट जाती है। अब बौंड़े का पिछला हिस्सा घूमकर सिकुड़ जाता है, जिससे
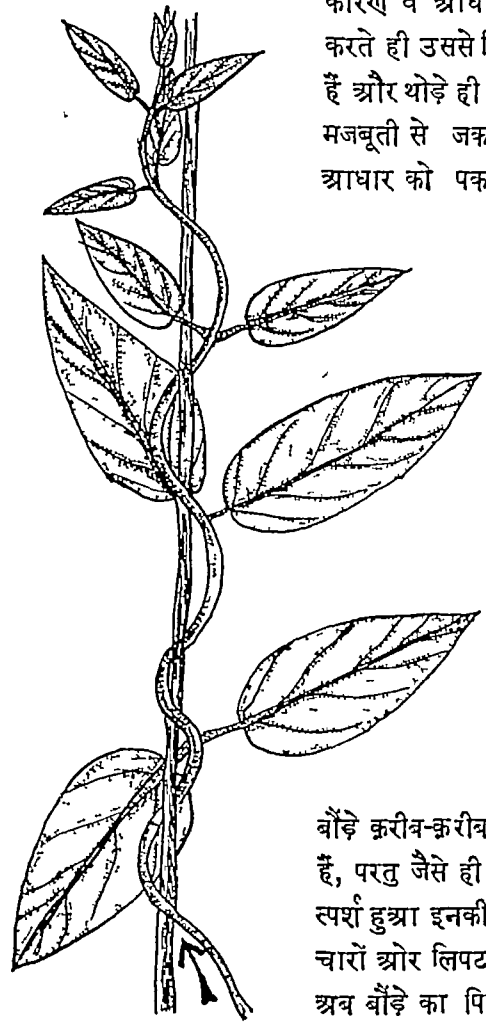
चित्र—३

चित्र ४
अंगूर-लता
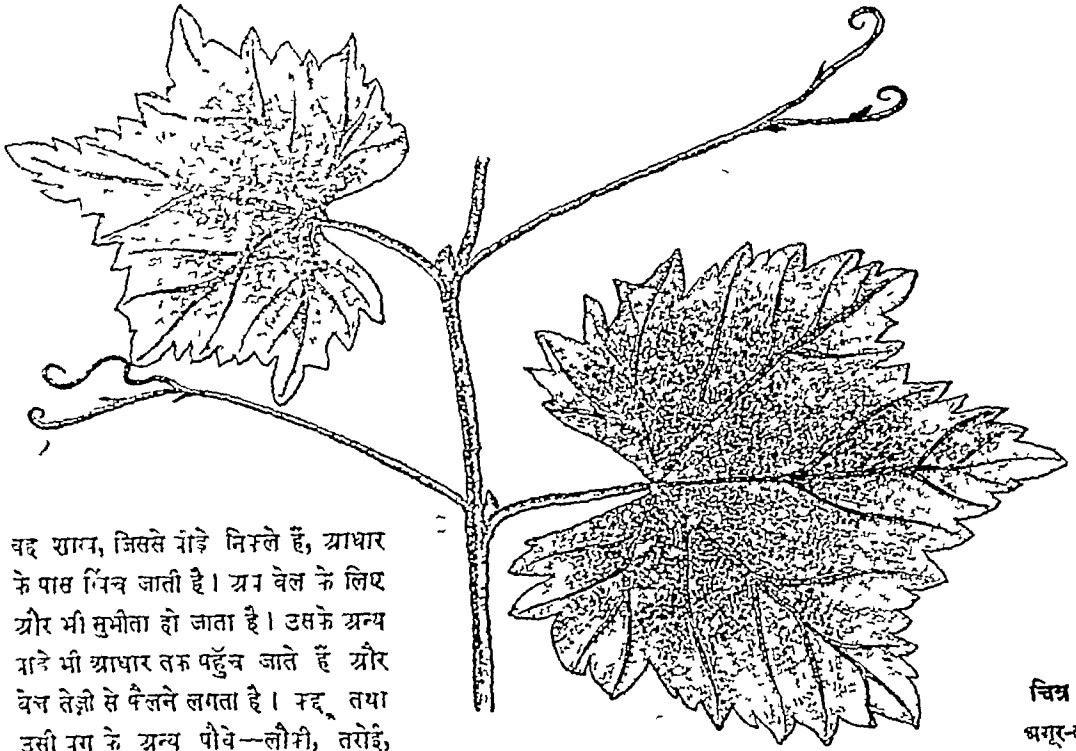
वह शाखा, जिससे तोड़े निकले हैं, आधार के पास खिंच जाती है। अब बेल के लिए और भी सुभीता हो जाता है। उसके अन्य तोड़े भी आधार तक पहुँच जाते हैं और बेल तेज़ी से फैलने लगता है। कद्दू तथा उसी वंश के अन्य पौधे—लौकी, तरोई, कुंदरू, परवल, चचड़ा—अंगूर, ऐम्पीलाप्सिस (चि० ५), ऐन्टीगानन इत्यादि सूत्रारोही बेलें हैं।

तोड़ों के सहारे चढ़नेवाली बेलों में अन्य प्रकार से फैलनेवाली बेलों की अपेक्षा विशेष सुविधा रहती है। इनमें अनेक तोड़े होते हैं जिनसे उन्हें आधार का सहारा प्राप्त करने में सुगमता रहती है। ये मोटे-से-मोटे वृक्षों और टूटी-फूटी चट्टानों के सहारे भी ऊपर चढ़ जाते हैं। लिपटनेवाली लताओं का ऐसी दशा में सफल होना कठिन ही नहीं असम्भव है।

किसी किसी पौधे में तोड़ों के सिरे पर लसदार चक्र या मंडल होते हैं (चि० ५)। इनके सहारे वे चिकनी-से चिकनी चट्टानों और दीवालों पर भी चढ़ जाते हैं।

तोड़ेवाली बेलें प्रायः वृक्षों की चोटी तक पहुँच नीचे को लटक पड़ती हैं और हवा से बिलकुल पास-पड़ोस के दूसरे वृक्षों तक पहुँच जाती हैं तथा उन पर फैलने लगती हैं। ऐसी बेलों की एक विशेषता यह भी है कि इनमें आधार से लिपटनेवाले अंग अर्थात् तोड़े मोटे नहीं होते, जिससे इनकी रचना में अधिक खाद्य रस व्यय नहीं होते। इस बचत के कारण ऐसी लतायें विशेष तेज़ी से बढ़ती हैं।

(स) जड़ों के द्वारा फैलनेवाले पौधे—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कई पौधों में जड़ें तोड़े का काम देती हैं।

(द) अटक-भटक कर ऊपर चढ़नेवाले पौधे—कोई-कोई पौधे अन्य वृक्षों तथा चट्टानों और दीवालों पर शूल अथवा अन्य रचनाओं के सहारे ऊपर चढ़ते हैं। कभी-कभी ऐसे शूल शाखाओं का रूपान्तर होते हैं। बोगेनविलास (*Bougainvilea*) (चि० ६) ऐसे ही कटकों द्वारा ऊपर को चढ़ती है। किसी किसी पौधे में ऐसे कटक अन्य अंगों के परिवर्तन से उत्पन्न होते हैं।

अवलम्ब के सहारे ऊपर चढ़नेवाले पौधों का हाल पढ़कर आपको विदित हो गया होगा कि यद्यपि तने और शाखों का मुख्य उद्देश्य ऊपर को बढ़ना और सीधे खड़े रहना है फिर भी कितने ही ऐसे द्रुम और लतायें हैं जो स्वयं ऐसा नहीं कर सकते। ऐसे नाज़ुक तनोंवाले पौधे या तो अन्य वस्तुओं के सहारे, जैसा अभी वर्णन कर चुके हैं, ऊपर चढ़ते हैं, या या ही ज़मीन के ऊपर नीचे रेंगते रहते हैं। इन दूसरी श्रेणीवालों में कुछ तो ऐसे हैं जो तनों तथा शाखों के सभी प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन कर, अपनी सीमा छोड़, जड़ों के प्रदेश में प्रवेश कर अधिकार जमाते हैं। इतना ही नहीं वे जड़ों का वेष भी धारण कर लेते हैं और कभी-कभी उन्हीं के

काम-काज भी करने लगते हैं, जिससे यदि आपको इनसे विशेष जानकारी न हो तो धोखा होने की सम्भावना है। लेकिन फिर भी ऐसे जड़वत् तनों में भी कुछ ऐसे लक्षण हैं जिन्हें वे पृथ्वी के अन्दर जड़ों के साथ रहने पर भी परित्याग नहीं कर सकते और इसी से सारा भेद खुल जाता है और रूप बदल जाने पर भी हम इन तनों को जड़ों से पृथक् कर सकते हैं। इन लक्षणों में सबसे विशेष बात है इन पर कलिकाओं और पत्तियों की उपस्थिति। पत्तियाँ और कलिकायें तनों और शाखों पर ही होती हैं, इसलिए ऐसे तनों को ध्यानपूर्वक देखने से हमें इनके यथार्थ रूप का पता चल जाता है।

२ जड़ की भाँति रोपण-शोषण का काम करनेवाले तने

भूम्यान्तर्गत तने रोपण-शोषण का काम करते हैं। सर्वजया या कैना (*Canna*) (चि० ७) और अनेक घासों के तने पृथ्वी के अन्दर-ही-अन्दर फैले रहते हैं और जड़ की भाँति उपरोक्त दोनों ही कर्त्तव्य का पालन करते हैं। जल के अन्दर उगनेवाले कितने ही पौधों के तने और पत्ते शोषण का काम करते हैं।
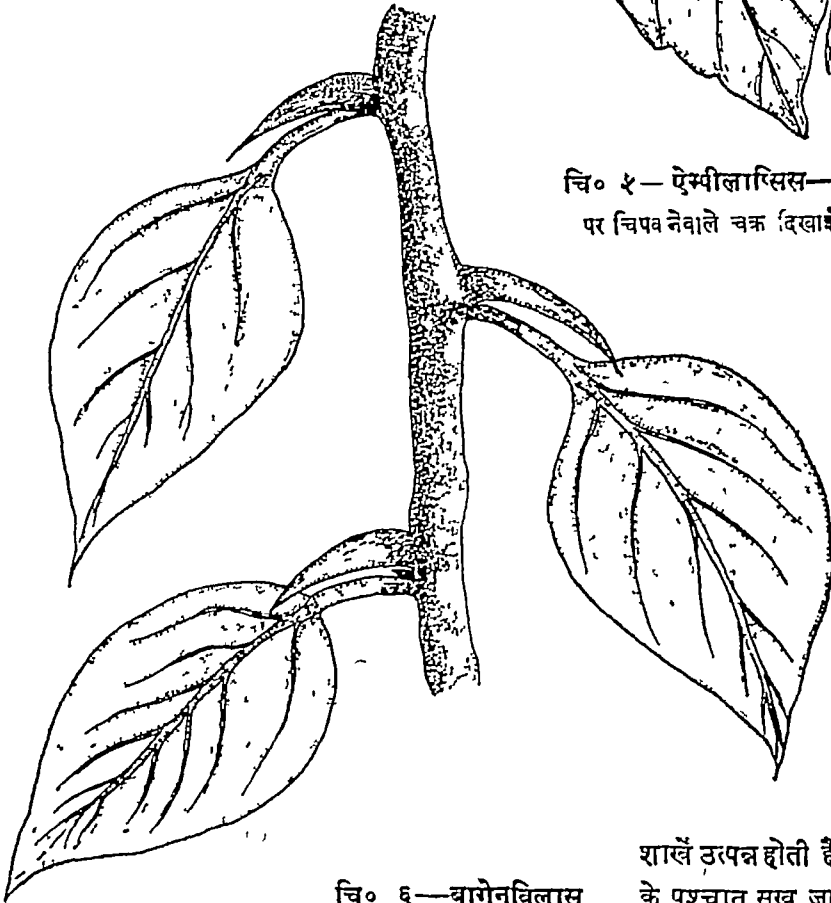
चि० ५—ऐम्पीलाप्सिस—बौड़ों के सिरों पर चिपकनेवाले चक्र दिखाई दे रहे हैं।

३. बीज की भाँति पौधों की उत्पत्ति का काम देनेवाले तने

कितने ही ऐसे पौधे हैं, जिनमें रोपण के साथ ही साथ धरती में रहनेवाले तने बीज की भाँति पौधे की नस्ल क़ायम रखने का काम भी करते हैं। फूलवाले पौधों में अलिंगिक (asexual) वंश-वृद्धि की यह साधारण रीति है। ऐसे तनों में कितने ही कोठार का काम भी देते हैं और ऐसी दशा में वे पृथ्वी के अन्दर ही रहते हैं। इन तनों के अनेक रूपान्तर हैं।

भूम्यान्तर्गत तनों में भी छोटी-छोटी पत्तियाँ होती हैं, परन्तु ये कभी हरी नहीं होतीं। इन्हे वल्कपत्र कहते हैं। इन वल्कपत्र के अक्ष में कलिकायें होती हैं, जिनसे वायुवर्ती शाखें उत्पन्न होती हैं। ये प्रति वर्ष पल्लवित हो फूलने-फलने के पश्चात सूख जाती हैं, परन्तु पृथ्वी के अन्दर उपस्थित तने, जिनसे ये उत्पन्न होती है, वर्षों सजीव बने रहते हैं।

चि० ६—बागेनविलास (*Bougainvilea*)

इस स्थिति में रहनेवाले तने अथवा उनके वल्कपत्र खाद्य पदार्थ संचित होने के कारण मोटे तथा दलदार हो जाते हैं। जिस समय वर्षाय शाखाएँ निकलती हैं, यही संग्रहीत पदार्थ काम आते हैं। जिन पौधों में ऐसे तने होते हैं उनमें उत्पत्ति का काम प्रायः इन्हीं तनों से होता है।

खाद्य पदार्थों का मोटी मांसल जड़ों और भूम्यान्तर्गत तनों में संग्रहीत होना पौधों की दूरदर्शिता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। पौधों के अंगों में संग्रहीत यही खाद्य कोश हमारे आहार के काम आते हैं। इन तनों के अनेक भेद हैं इनमें से कुछ का हम यहाँ पर वर्णन करेंगे।

मूलस्कंध और सम्मूलनी शाखा
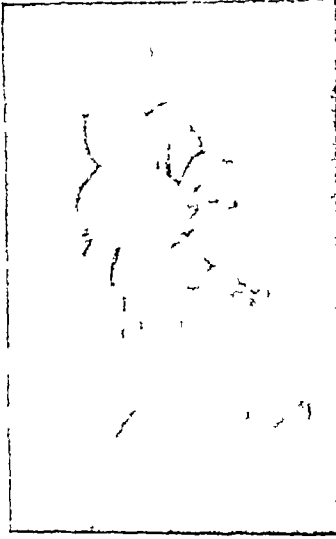
मूलस्कंध (rhizome) पृथ्वी के अन्दर ही अन्दर फैलता है, परन्तु सम्मूलनी शाखा (runners) ऊपर रहती है। इन दोनों में ही गाँठें (nodes) और पोर (internodes) होते हैं। गाँठों से जड़ें निकलती हैं। किसी किसी पौधे में गाँठों के बीच के पोर या पर्व थोड़े ही समय में गल जाते हैं और इस प्रकार प्रत्येक गाँठ से नवीन पौधे उत्पन्न हो जाते हैं। किसी-किसी पौधे में मूलस्कंध से अनेक शाखें फूटती हैं और अन्त में बीच का पुराना भाग गल जाता है और इस प्रकार अलग-अलग नए पौधे हो जाते हैं। मूलस्कंध और सम्मूलनी शाखा दोनों ही से उत्पन्न होनेवाले पौधे थोड़े ही स्थान के अन्दर फैल सकते हैं। अदरक, हल्दी, सर्वजया (चि० ७), कमल (चि० ८), आदि

चि० ७—सर्वजया या कैना
इसका तना धरती के अंदर-ही-अंदर रहता है। (फ़ोटो—श्री० राजेंद्रवर्मा)

चि० ८—कमल
इसका भसीड़ तने का रूपांतर है। [फ़ो०—श्री वि० सा० शर्मा]
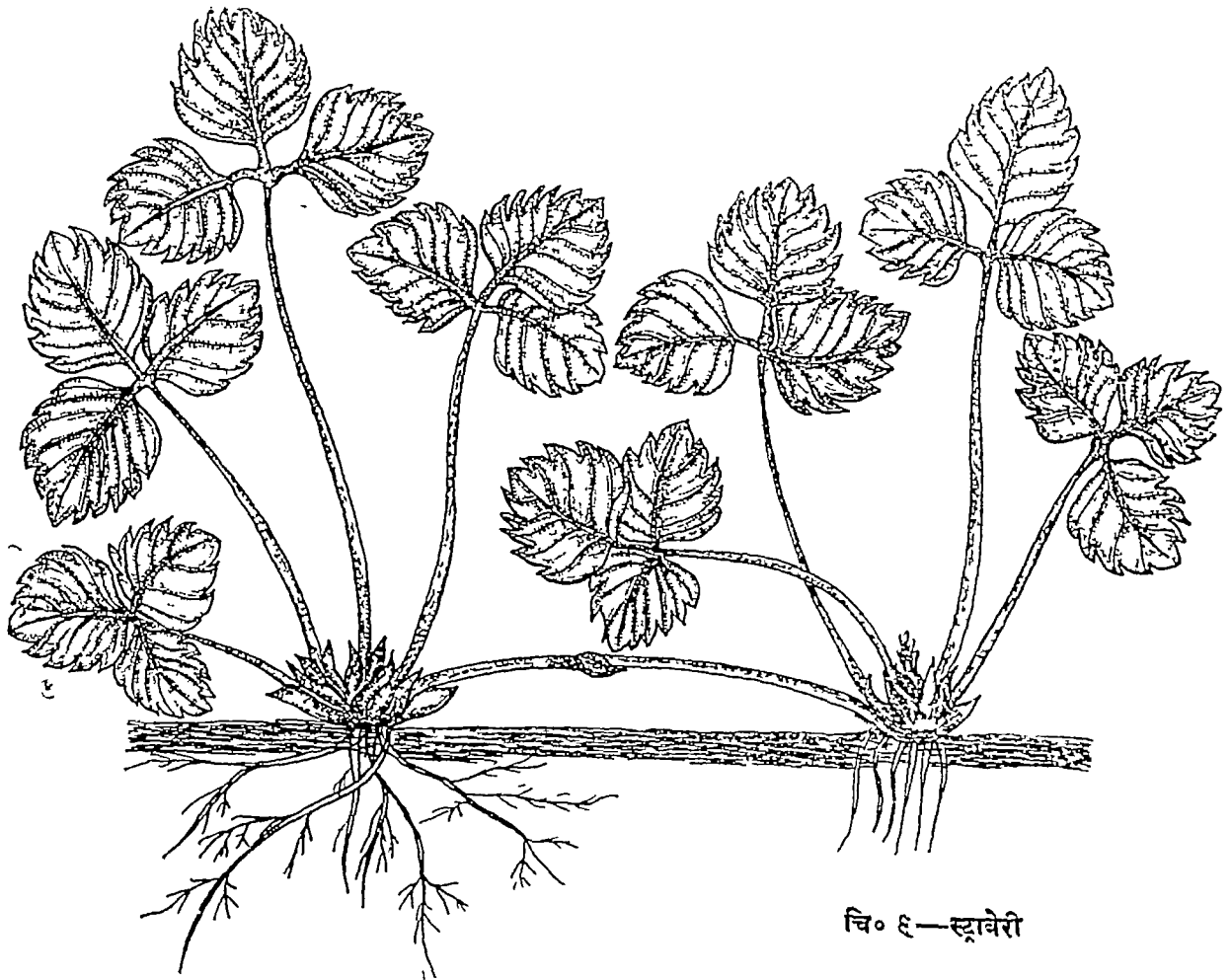
चि० ६—स्ट्राबेरी

में मूलस्कध होते हैं। दूब घास और स्ट्राबेरी (चि० ६) आदि में सम्मूलनी शाखा होती हैं।

कंद, ग्रन्थिकंद और बज्रकंद

कद (bulb), बज्रकद (corm) और ग्रन्थिकद (tuber) तीनों ही चिरस्थायी तने हैं, जिनमें खाद्य पदार्थ सचित रहते हैं और जो मूलस्कध और सम्मूलनी शाखा की भाँति पौधों की उत्पत्ति का काम देते हैं।

कंद—कद में तने का भाग अत्यन्त छोटा और चिपटा होता है। प्याज (अक ३, चि० ८), हायासिंथ, ट्यूलिप, नरगिस आदि की कदों में चारों ओर मासल वल्कपत्र होते हैं।

ग्रन्थिकंद—ग्रन्थिकद जड़ तथा तना दोनों ही अगों में परिवर्तन से उत्पन्न होती हैं। इनमें खाद्य पदार्थ सचित रहते हैं और इसलिए ये मासल और मोटी होती हैं। शाख-ग्रन्थिकद भूमि के अन्दर फैली विशेष प्रकार के तनों की गाँठ सरीखी शाखें हैं। आलू (अ० ८ चित्र २) इनका एक उदाहरण है। आलू में कितनी ही आँखें होती हैं जो वल्क-पत्र के अक्ष मे निकलती हैं। समय आने पर इन्हीं आँखो से शाखें उत्पन्न होती हैं। एक प्रकार की सूर्यमुखी की जाति के पौधे (*Helianthus tuberosus*) या जेरूसेलम आर्टीचोक में भी आलू की भाँति ग्रन्थिकद होती हैं। कोई-कोई रतालू में भी ऐसी ग्रन्थिकद होती हैं।

बज्रकंद—बज्रकद भी भूम्यान्तर्गत मासल तनो में है। इसमें और ग्रन्थिकन्द में बहुत-कुछ समानता होती है, परन्तु इसमे अग्रस्थ कलिका (terminal bud) की पत्तियाँ ग्रन्थिकद की इस जैसी कलिका की पत्तियों की बनिस्बत बड़ी होती हैं। सूरन या जिमीकन्द (अ० २ चि० २) और बण्डे और केसर की गाँठ बज्रकन्द हैं। बज्रकन्द के समस्त भाग पर वल्कपत्र होते हैं। नवीन कद या तो नीचे या पार्श्व में निकलती हैं। कद और बज्रकद में यह अन्तर है कि कन्द में मासल वल्कपत्र और साधारण वल्कपत्र दोनों ही होते हैं, परन्तु बज्रकन्द में केवल साधारण वल्कपत्र ही होते हैं।

पत्रकद (bulbils)—ये पार्श्विक कलिकायें हैं। इनकी पत्तियो मे खाद्य पदार्थ सग्रहीत रहते हैं, इसलिए ये मासल होती हैं। वृक्ष से पृथक हो पत्रकन्द नवीन पौधे

पन्न करती है। किसी-किसी पौधे में पत्रकन्द साधारण मञ्जरिकाओं से उत्पन्न होती है। रामबाँस या हाथी-चिग्घार में ऐसी अनेक कलिकायें होती हैं (चि० १०)। पुष्पव्यूह पर लगी होती हैं और इधर-उधर फैल अनेक पौधे उत्पन्न करती हैं।

८ काण्डपत्र या पत्रवत् तने

पत्तियों का प्रधान कर्तव्य श्वेतसार या स्टार्च का संश्लेषण

चि० १०—हाथीचिग्घार के पत्रकन्द (bulbils)
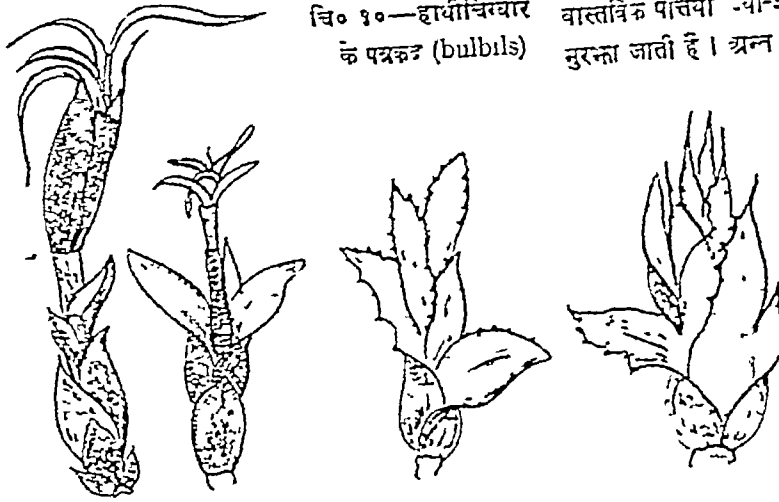
है। इनमें यह विशेषता पर्णहरित से है। जिस समय पौधे उगते हैं अनेक नवल तने हरे होते हैं। इसलिए इस समय वे किसी न-किसी अंश में स्टार्च-संश्लेषण का भी कार्य करते हैं। वृक्षों के तने तो सदैव ही हरे बने रहते हैं, जिससे वे बराबर कुछ-न-कुछ स्टार्च बनाते रहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ पौधे ऐसे हैं, जिनके तने विशेष प्रकार परिवर्तित हो पत्ती का काम करते हैं। ऐसे तनों को काण्ड-पत्र (phylloclades) कहते हैं। इनमें से कोई गोल, कोई चिपटे मोटे (चि० ११) और कोई पत्तियों-सरीखे महीन और चिपटे होते हैं (चि० १२-१३)। रस्कस में ये हरे, पतले और देखने में बराबर पत्ती समान होते हैं (चि० १२)। फिर भी ये शाखों का ही रूपान्तर हैं, परन्तु इस बात को सिद्ध करने के लिए हमको काण्डपत्र का भली भाँति निरीक्षण करना होगा।

शाखों की प्रधान विशेषता यह है कि वे पत्तियों के अक्ष में निकलती हैं और पत्ती तथा फूल-फल को धारण करती हैं। रस्कस की पत्रवत् रचना पर ध्यान देने से पता लग जायगा कि शाखों की भाँति ये भी पत्तियों की अक्ष में ही होते हैं और इन पर शल्कपत्र और फूल होते हैं (चि० १२)। इसके अतिरिक्त इनकी आन्तरिक रचना भी तनों जैसी होती है। इससे स्पष्ट है कि रस्कस की पत्रवत् रचना पत्ती नहीं वरन् तने का ही रूपान्तर है।

जिस समय रस्कस में नवल किल्ले निकलते हैं इनमें छोटी-छोटी पीले रंग की अत्यन्त पत्तियाँ होती हैं। काण्डपत्र इन्हीं पत्तियों की अक्ष में होते हैं। ये प्रारम्भ से ही रंग में गहरे और साधारण पत्तियों से जोरदार होते हैं। थोड़े ही समय पश्चात् ये नश्वर पत्ती सरीखे हो जाते हैं। वास्तविक पत्तियाँ ज्यों-ज्यों पुरानी होती हैं वे सूखकर मुरझा जाती हैं। अन्त में इनके निशान का भी पता लगना कठिन हो जाता है।

काण्डपत्र प्रायः ऐसे देशों में होते हैं जहाँ जल की कमी रहती है। इन स्थानों में जल का अधिकांश भाग पौधों की पत्तियों द्वारा वाष्पत्याग से वायु में चला जाता है। इस जल की कमी को जड़ों द्वारा पूर्ण करना पौधों के लिए कठिन समस्या रहती है। इसलिए पौधों की महीन पत्तियों के स्थान पर मांसल हरे भरे तने का होना इस वाष्पत्याग के आधिक्य को रोकने के लिए प्रतीत होता है।

अन्य अंगों की रक्षा का काम देनेवाले तने—शूल और कण्टक

पेड़-पौधों में अनेक भाँति के शूल और कण्टक होते हैं। ये रचनायें विविध अंगों के परिवर्तन से उत्पन्न होती हैं। बबूल, थूहड़ (अ० ३ चि० ६) तथा बेर में काँटे पुच्छपत्र के परिवर्तन से उत्पन्न होते हैं। किसी किसी पौधे में ये पत्तियों के रूपान्तर हैं। रूसा और कटकारी अथवा भटकटइया में ये रोमों का रूपान्तर हैं। बोगेनविलास (चि० ६) तथा बेल आदि में ये शाखों का रूपान्तर हैं। इन पेड़ों में काँटे उनकी जानवरों से रक्षा करते हैं।

वृहदाकार तने

पिछले पृष्ठों में हमने प्रायः तने के सम्बन्ध की सभी मुख्य-मुख्य बातों का न्यूनाधिक उल्लेख किया है। अब हम आपका ध्यान इनके आकार की ओर आकर्षित करना चाहते हैं।

जन्तु-संसार में देव-दानव होते हैं, ऐसा तो आपने
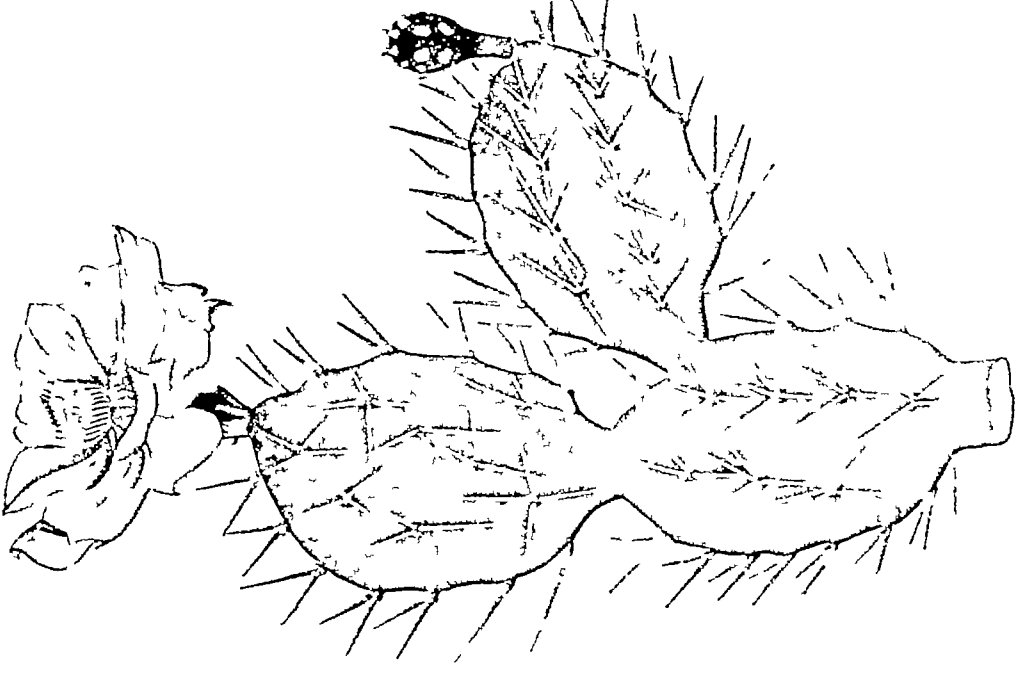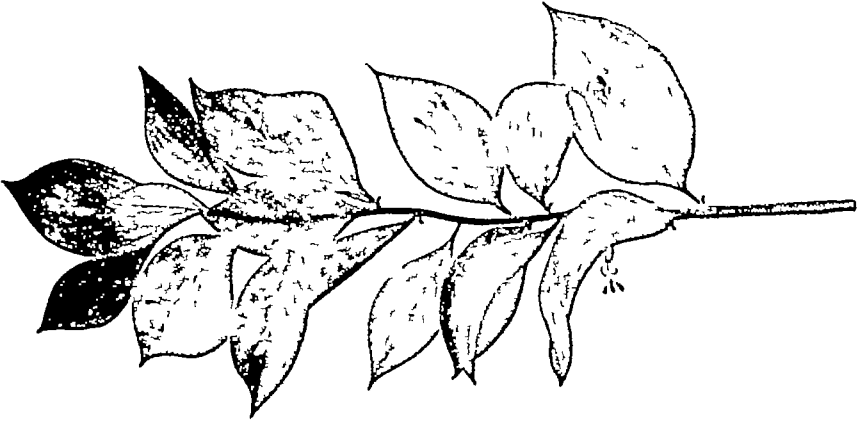
चि० १२-१३—रस्कस ग्रौर नागफनी

(बाईं ग्रोर) रस्कस, जिसकी पत्रवत् रचनाएँ तने का रूपातर हैं। (दाहिनी ग्रोर) नागफनी, जिसके मोटे मासल पत्ती-जैसे काडपत्र तने का रूपातर हैं।

[चि०—श्री० रामसिंह शर्मा]

चि० ११—अनेक पत्रवत् तनेवाले पौधे—इसमें नागफनी, थूहड़ आदि की जाति के कई पौधे हैं। [फो०—श्री राजेन्द्र वर्मा]

च० १४—कलकत्ते का बरगद, जिसकी बरोहियों की संख्या ३२५० से भी अधिक है। (फो०—इंडियन स्टेट रेलवेज़)

बहुत-से क़िस्से-कहानियों में पढ़ा होगा। बहुत पुरानी बात है, आज से करोड़ों वर्ष पूर्व टेरोडेक्टाइल्स, इक्थियोसोरस जैसे विशालकाय जीव पृथ्वी पर विचरते थे। आज इनके केवल शिलीभूत अवशेष रह गये हैं, परन्तु वनस्पति-ससार में तो आज भी सैकड़ो देव-दानव जीवित दशा में उपस्थित हैं।

समुद्र-तट से ४०००—५००० फ़ीट ऊँची कैलीफ़ोर्निया की घाटियों में उगनेवाले सिकोया वृक्षों की ओर ध्यान दीजिए। ये २००—३०० फ़ीट ऊँचे और १००—१२५ फ़ीट चौड़े तनेवाले वृक्ष वनस्पति ससार के दानव नहीं तो क्या हैं? हमारी आपकी कौन कहे, जन्तु-ससार के बड़े-से-बड़े डाइनोसोरस जैसे दानव को भी यदि पूँछ की नोक पर सीधा खड़ा किया जाय तो वह भी सिकोया की निचली-से-निचली शाख को नहीं छू पायगा। डाइनोसोरस-जैसे दानवों के अनेक परिवार मिलकर यदि एक-दूसरे से हाथ मिलाकर प्रयत्न करें तो भी इन वृक्षों के तने को आलिंगन करने में असमर्थ होंगे। फिर भी सिकोया वनस्पति-ससार के न सबसे ऊँचे न सबसे अधिक आयुवाले ही वृक्ष हैं। जहाँ तक पता चलता है, इनमें का शायद ही कोई वृक्ष चार हज़ार वर्ष से अधिक आयुवाला हो।

मेक्सिको में चोड़ के समूह के एक सरो की जाति के वृक्ष की आयु ६ हज़ार वर्ष से भी अधिक अनुमान की जाती है। जिस समय कैलीफ़ोर्निया के कितने ही सिकोया प्रगाढ़ निद्रा छोड़ बीज से बाहर ही अकुरित हो रहे थे इन सरो में से कितने ही इतने पुरातन हो चुके थे, जितने कि वर्तमान समय में कैलीफ़ोर्नियावाले सिकोया हैं। परन्तु आयु में इतने बड़े होने पर भी ये ऊँचान में सिकोया से बहुत कम हैं। फिर भी इनके तने का घेरा सिकोया से अधिक है। इनमें से किसी-किसी का मोटान तो सौ-सवा सौ फ़ीट से भी अधिक होगा। इन दोनों ही जाति के वृक्षों की लकड़ी बड़ी मजबूत होती है। कहते हैं, मिस्र देश में मोमिया की हुई लाशें इसी सरो की लकड़ी के सन्दूकों में रक्खी हैं। आज हज़ार वर्ष पर्यन्त भी ये सन्दूक़ जैसे के तैसे बने हैं।

हमारे देश में बरगद की बड़े वृक्षों में गिनती है। ये थोड़े ही समय में बहुत बढ़ जाते हैं। सिकोया और सरो को इतना बढ़ने में हजारों वर्ष लगे हैं, परन्तु बरगद तो सौ-दो सौ वर्ष में ही अति दीर्घकाय हो जाता है। कलकत्ते के बोटैनिकल गार्डेन्स में एक ऐसा ही बरगद का वृक्ष है। इसकी आयु कुछ ही सौ वर्ष होगी फिर भी इसमें २५० से अधिक ऐसी बरोहियाँ हैं जिनका व्यास ७-८ फ़ीट से अधिक है और कुल बरोहियों की सख्या तो ३२५० से भी अधिक है। इस वृक्ष के साये में ७०००—८००० मनुष्य बैठ सकते हैं। यह बरगद का पेड़ नहीं बल्कि अच्छा ख़ासा बगीचा है (चि० १४)।

और भी कितने ही दीर्घकाय वृक्ष होते हैं। आस्ट्रेलिया महाद्वीप में उगनेवाले यूकैलिप्टस के वृक्ष प्रायः ४००-५०० फ़ीट ऊँचे होते हैं। पर्वत-श्रेणियों पर उगनेवाले इन वृक्षों के साये में दुनिया की ऊँची-से-ऊँची इमारत आ सकती है। यूकैटान में सेमल की जाति के (*Bombax ceiba*) वृक्ष हैं, जिनमें से किसी-किसी का तना इतना मोटा है कि यदि चौदह-पद्रह आदमी भी एक दूसरे का हाथ पकड़ बाँहों में भरकर इसे घेरना चाहें तो कठिनाई होगी।

जगलों में उगनेवाले कितने ही वृक्ष हजारों वर्ष तक जीवित रहते हैं। शाहबलूत एक ऐसा ही वृक्ष है।

वेलबेक (Welbeck) नामक स्थान पर उगनेवाले इस जाति के एक वृक्ष के सबध में कहा जाता है कि यह १५०० साल से भी पुराना है। १६० साल से ऊपर हुए, इसके अधिकारी ने इसके तने के भीतर से एक रास्ता निकाला, जिससे होकर मोटर, घोड़ागाड़ी और छकड़े तक आ-जा सकते हैं। यह सुरग ४ फ़ीट से अधिक चौड़ी और १० फीट के लगभग ऊँची है। इस मार्ग में तीन घुड़सवार बराबर-बराबर घोड़े दौड़ा सकते हैं।

फूल-फलवाले वृक्षों के अतिरिक्त वनस्पति-जगत् के अन्य पेड़-पौधे भी दीर्घजीवी और बृहत्काय होते हैं। कितने ही समुद्रशैवाल बड़े लम्बे होते हैं। इनमें से मैक्रोसिस्टिस पाइरीफ़ेरा (*Macrocystis pyrifera*), जो टीराडेल फ्यूगो और न्यूजीलैण्ड के बीच के दक्षिणी समुद्रों में उगता है, ४०० फीट से भी अधिक लबा होता है, यद्यपि इसके तने का मोटान आध इच से भी कम होता है। यदि हम इसको सीधा खड़ा कर सकें तो कुतुबमीनार जैसी ऊँची इमारतों के ऊपर भी इसकी शाखें फैली रहेंगी।

यहाँ हमने वनस्पति-जगत् के इन दैत्याकार वृक्षों का केवल तने के आकार के सिलसिले में उल्लेख किया है। इनके बारे में विस्तारपूर्वक अन्य बातें लिखने का यहाँ न तो स्थान ही है, न अभी हमारे विषय से उन बातों का सबध ही है। इनकी जीवन-कहानी के सबध में अन्य रोचक बातें विस्तारपूर्वक हम इसी स्तभ में आगे के किसी लेख में बतावेंगे।
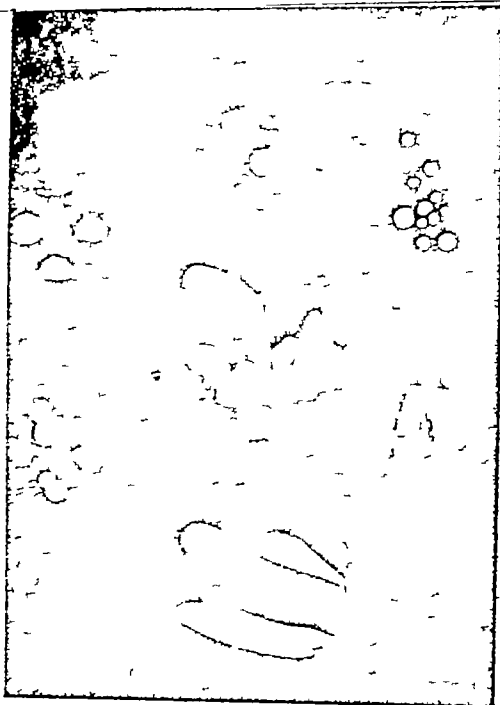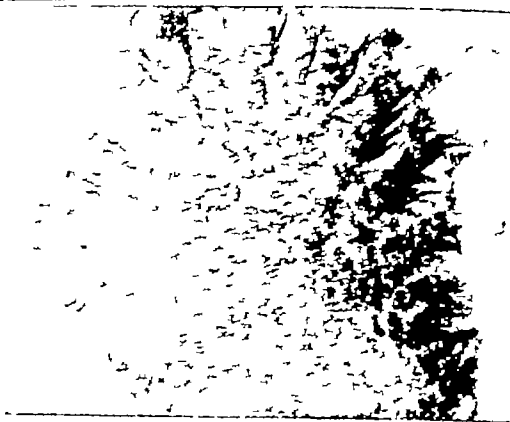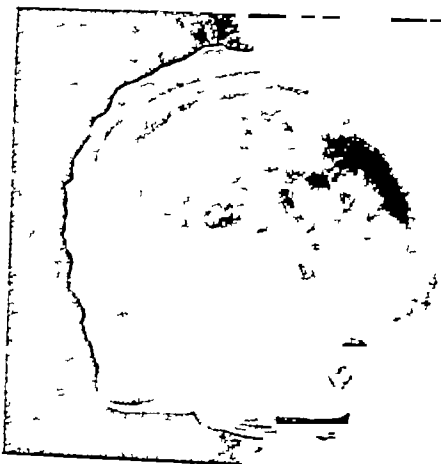
(१) भिन्न-भिन्न आकारों के भारतीय सच्चे मोती। सब मोती गोल ही नहीं बनते वरन् कोई लम्बे, कोई जुड़वाँ (दो या तीन साथ-साथ जुड़े हुए), कोई अंडे के आकार के तथा अन्य शक्लों के होते हैं।

चार प्रकार के मोती बनानेवाले जीव

(२ और ३) अवीकुला नामक कस्तूरे का बाहरी और भीतरी चित्र। यह हिन्द महासागर में पत्थरों पर चिपटे हुए अधिकता से पाया जाता है। छिलके की ऊपरी सतह पर उसकी बाढ़ की रेखाएँ और तेज नोकवाले उभरे हुए काँटे-से निकले रहते हैं। चित्र ३ में भीतरी तह पर एक बड़ा मोती लगा हुआ दिखलाई पड़ रहा है। (४) असली मोतीवाला कस्तूरा—मिलिवेग्रिना। यह भी भारत के आसपास के सागरों में—विशेषकर लंका में—पाया जाता है। (५) नदी में मिलनेवाली मामूली सीपी और (६) बजानेवाला शंख, इन दोनों में भी कभी-कभी सच्चे मोती पाये जाते हैं।
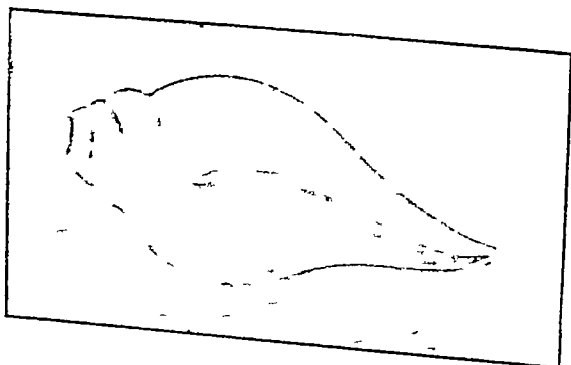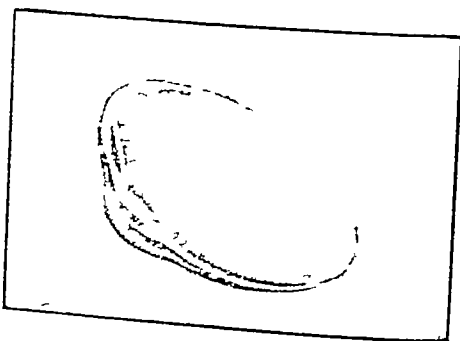
मोती और उसको बनानेवाले जीव

शंख, घोंघे, सीप और उनसे बने हुए बटन तथा ब्रूच इत्यादि वस्तुओं से तो सभी भारतवासी परिचित हैं, परन्तु यह बात कुछ ही लोग जानते होंगे कि ये सब नदी, तालाब अथवा सागरों में वास करनेवाले जीवों के घर हैं। चमकनेवाले सुन्दर सच्चे मोती अपनी मनमोहकता, झलक, कान्ति और बहुमूल्यता के कारण मनुष्य को अति प्राचीन समय से ही प्रिय रहे हैं। ये बहुमूल्य जवाहरात भी इन्हीं नीची जाति के प्राणियों से प्राप्त होते हैं। आइए, इसकी रोमाञ्चकारी कहानी हम आपके सम्मुख उपस्थित करें।

मोतियों के इतिहास पर एक सरसरी नज़र

अत्यन्त प्राचीन काल से, जब इतिहास बाँस के पत्तों और भोज-पत्रों पर लिखा जाता था, अथवा कदाचित् इससे भी पहले मानव जाति मोतियों से परिचित थी। उसी समय से उनकी गणना क़ीमती चीज़ों और जवाहरातों में होती आई है। प्राचीन चीनी, हिन्दू, रूमी, मेक्सिको-वासी आदि उन्हें अपने देवताओं के शृङ्गार और मन्दिरों के सजाने के काम में लाते थे। मनुष्य द्वारा खोजे गए जवाहरों में से कदाचित् मोती ही ऐसा है, जिसे मनुष्य ने सबसे पहले खोजा था, क्योंकि यह निश्चित है कि मनुष्य की अत्यन्त प्राचीन जातियाँ, जो पानी के किनारे रहती थीं, सीप, घोंघे आदि पर भी निर्वाह करती थीं।

मोतियों का वर्णन सबसे पहले हमें चीन के इतिहास में मिलता है। कुंज और स्टीवेनसन ने लिखा है कि शूकिंग नामक पुस्तक में ईस्वी पूर्व २३वीं शताब्दी में यू नामक बादशाह द्वारा हवाई नदी के मोतियों के कर-स्वरूप लिये जाने का उल्लेख है। पुरानी इंजील में भी मोती का वर्णन मूँगे और चुन्नी के साथ आया है।

भारतवर्ष के सागरों में ईसा से कई सौ वर्ष पहले लोग मोतियों से परिचित थे। लंका और फारस की खाड़ी में पुराने ज़माने से मोती ज़रूर निकाले जाते थे लेकिन इसका आरम्भ कब हुआ और किसने पहले-पहल इसको निकाला इसका उत्तर अतीत के इतिहास के साथ ही अन्धकार में विलीन हो गया। यह तो निश्चित है कि उस समय भी लंका में मोतियों की गिनती देश की अच्छी पैदावार में की जाती थी। सिंहल द्वीप के प्रसिद्ध भूपति 'विजय' (५५०-५४० वर्ष ई० पू०) ने अपने श्वसुर के लिए आठ प्रकार के मोती भेंट-स्वरूप भारतवर्ष भेजे थे। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में भी मोतियों की चर्चा मिलती है।

मिस्री, ईरानी और यूनानी भी मोतियों के प्रयोग से अनभिज्ञ न थे। कुंज और स्टीवेनसन लिखते हैं कि ३२०० वर्ष ई० पू० मिस्रवासी मोतियों का प्रयोग करते थे, परन्तु उस समय वे उन्हें बहुमूल्य वस्तुओं में सम्मिलित न करते थे। रूमियों और यूनानियों का मोतियों से धार्मिक सम्बन्ध था। प्लाइनी ने लिखा है कि रूमियों में मोतियों का रिवाज एलेक्जेन्ड्रिया की विजय के पश्चात् ही जोर-शोर से बढ़ा और जवाहरात मर्यादा और शान-शौकत के लिए पहने जाने लगे। इससे उनके दाम बढ़ गये और शासकों की ओर से मोतियों के व्यवहार की मनाही कर दी गई। कहा जाता है कि रूम के बादशाह जूलियस सीजर के जी में ब्रिटेन को जीतने की इच्छा मोतियों के लालच के ही कारण उत्पन्न हुई थी, क्योंकि वहाँ की नदियों में मोती के सीप अधिक मिलते थे। यह भी कहते हैं कि १२वीं शताब्दी से पहले ब्रिटेन में मोतियों का प्रयोग बहुत ही कम था, लेकिन १३वीं और १४वीं शताब्दी में सारे योरप में साधारणतया मोतियों के आभूषण पहने जाने लगे थे।

१८वीं सदी में मोतियों की पैदावार कम होने लगी और उनका दाम बढ़ने लगा। पर इन्हीं दिनों ऑस्ट्रेलिया की नई बस्तियों के तट पर मोतियों की खोज में सफलता मिली और ऊँचे दर्जे के मोती वहाँ से भी प्राप्त होने लगे। मोतियों की महँगाई का कारण उनकी पैदावार की कमी ही न थी, वरन् उनके प्रयोग की अधिकता भी थी। इसलिए लोगों का ध्यान मोतियों की पैदावार बढ़ाने

तथा नक़ली मोती बनाने की ओर भी जाने लगा।

मोतियों के विषय में प्राचीन लोगों के विचार

अनुमान किया जाता है कि पहले-पहल मोतियों की खोज का कारण मनुष्यों के मिथ्या विश्वास थे। उनका पहनना अनिष्टनिवारक और सौभाग्यमूलक समझा जाता था। हमारे देश में भी जवाहरात के विषय में लोगों के ऐसे ही ख़याल रहे हैं। नीलम के विषय में तो अब भी कहा जाता है कि वह किसी को फलता है और किसी को नहीं। यही बात किसी किसी हीरे के विषय में भी कही जाती है। अथर्ववेद में लिखा है कि सच्चे मोती और मोतियों के हार पहननेवाले की आयु लम्बी होती है। भारत और चीन में मृत मनुष्य के मुँह में मोती रखने का रिवाज प्रचलित था। ६०० वर्ष पहले जब मार्को पोलो यहाँ आया था तब भी यहाँ यह बात होती थी। बौद्ध लोगों का मत था कि मोतियों की उत्पत्ति पवित्र होने के कारण उनसे शुद्ध प्रभाव फैलता है। अत. वे उन्हें इकट्ठा करते थे, जिससे कि उनकी धार्मिक योग्यता और शक्ति के भाडार में वृद्धि हो। इसीलिए रूमी भी उन्हें अपने देवताओं को अर्पण करते थे। भारत और जापान के बौद्धों में बहुत-सी कहावतें प्रचलित हैं, जिनका सार यह है कि बहुमूल्य मोती मनोकामनाओं को पूर्ण करता है। पुरानी फ़ारसी में मोती 'मर्गन' कहा जाता था। इस शब्द का अर्थ है 'जीवन प्रदान करनेवाला।' चूँकि लोग समझते थे कि मोती अमृत या देवताओं के आँसुओं से बने हैं, इसीलिए शायद वे उन्हें शक्तिदायक औषधि, हीर और तावीज़ों में काम लाते थे। चीनियों का भी विश्वास है कि मोतियों में 'याग' अर्थात् जीवन-शक्ति देनेवाला पदार्थ भरा हुआ है। इसी कारण वे लोग हमारी तरह विश्वास करते हैं कि मोती के प्रयोग से आयु बढ़ती है। मोती और उसकी भस्म को औषधियों के रूप में अभी तक प्रयोग करने का प्रमुख कारण यही है। स्कॉटलैंड के पर्वतों पर रहनेवाले गैलिक लोग मोती को स्वर्ग से सम्बन्धित मानते थे। उनके यहाँ आकाश के लिए 'नियाम्ह' शब्द प्रचलित था और मोतियों को वे 'नियाम्हनुइद' कहते थे। कोलम्बस के पूर्व के अमरीका-वासी मोती और चन्द्रमा में सम्बन्ध बतलाते थे। उत्तरी अमरीका में उनकी क़ब्रों से मोती निकले हैं।

संसार के सबसे बड़े और बहुमूल्य मोती

सच्चे मोती तो हमेशा बहुत ही महँगे रहे हैं और सभी जानते हैं कि मोती प्राय बड़े दाम के होते हैं। परन्तु आप में से बहुतेरे यह जानकर चकरा जाएँगे कि एक मोती के लिए लोगों ने कितने ऊँचे दाम दिये हैं। रूम के बादशाह जूलियस सीज़र ने मार्कस ब्रूटस की माँ सर्वीलिया को एक सच्चा मोती दिया था जिसका दाम ६७२००० रुपये* था। मिस्र की रानी क्लियोपैट्रा के विषय में कहा जाता है कि एक मोती के लिए, जो उसके मन बस गया था, उसने ११२०००० रुपये दिये थे। इस मोती को वह एक समय निगल गई। टॉवर्नियर एक प्रसिद्ध जौहरी था। एक बार उसने एक मोती मोल लिया था जिसे उसने फ़्रांस के बादशाह के हाथ २६२०००० रुपया में बेचा था। शायद यही वह मोती था जिसको उसी बादशाह ने सन् १६३३ में एक धनी अरब से १५६५६०० में दिया था। स्पेन के बादशाह फ़िलिप द्वितीय के पास सन् १५७४ में एक मोती लाया गया था, जो मूल्य में २०००००रु० का और तौल में कबूतर के अंडे के बराबर था।

भारत के राजाओं के पास भी बड़े-बड़े क़ीमती मोती हैं, किन्तु कहा जाता है कि संसार भर में सबोत्तम और सर्वश्रेष्ठ समूह बड़ौदा के महाराजा गायकवाड़ के पास है। इस समूह में कई लड़ियोंवाले ३५ हार हैं, जिनकी एक-एक लड़ी का मूल्य १६००० से लेकर २८०००० रुपये तक कूता जाता है। जो हार महाराजा राजकीय अवसरों पर पहनते हैं, उसमें छोटाई-बड़ाई तथा चढ़ाव-उतार करते हुए २८० मोतियों की सात लड़ियाँ हैं और इनका मूल्य ७०००००० रुपये से भी अधिक समझा जाता है। १६०००० रुपये वाला 'पैरागन' नाम का प्रसिद्ध मोती भी, जो तौल में सवा तीन माशे का है, इन्हीं के पास है।

मॉस्को का 'पिलग्रिम' नामक मोती, जो बिल्कुल साफ़ पारदर्शक है, तौल में ८ माशे है। इससे भी बड़े बड़े मोती मिले हैं। हम ठीक ठीक नहीं कह सकते कि दुनियाँ में सबसे बड़ा मोती कौन-सा है, किन्तु यह कहा जाता है कि वह दिल्ली में किसी के पास है और उसका व्यास साढ़े चार इंच तथा लम्बाई २ इंच है। इसका वज़न ३ आउंस अथवा सवा सात तोले के लगभग है। इसके मूल्य का कोई अन्दाज़ा नहीं है। एक समय यह फ़्रांस की रानी के पास था। उसके बाद यह हेनरी फ़िलिप होप की सम्पत्ति में सम्मिलित था। यह दिल्ली कैसे पहुँचा, यह बात उसके वर्त्तमान मालिक के सिवा किसी को मालूम नहीं, और वे इसे बताना नहीं चाहते।

मोती क्या हैं?

अब हम आपका ध्यान इस ओर लाना चाहते हैं कि ये

* इस लेख में एक पाउंड चौदह रुपये के बराबर माना गया है, और इसी अनुपात पर ये दाम आँके गये हैं।

मोती किस वस्तु के बने हैं और प्रकृति के कारख़ाने में कैसे इनका निर्माण होता है। यह आश्चर्यजनक है कि मनुष्य इनसे परिचित होते हुए भी मुद्दतों तक इनकी उत्पत्ति का सही हाल न जान सके थे। अरब के लोगों में एक कथा प्रचलित है कि मोती ओस की बूँदों से बनते हैं। उनका विचार था कि बड़े तड़के कस्तूरे पानी की सतह पर तैरने लगते हैं और ओस की बूँदें पी लेते हैं, जो उनमें जाकर चमकदार मोती बन जाती हैं। यदि वे ओस अधिक पीते हैं तो मोती बड़ा बनता है और यदि कम पीते हैं तो छोटा बनता है। १५वीं और १६वीं शताब्दी तक योरपवासी मोती बनने की इसी क्रिया पर विश्वास करते रहे। हिन्दुओं मे भी यह कहानी प्रचलित है कि स्वाती की बूँद यदि सीप में पड़ जाती है तो मोती बन जाती है, बाँस के पत्ते पर गिरती है तो बसलोचन हो जाती है और मृग की नाभि पर गिरती है तो कस्तूरी में परिणत हो जाती है। किन्तु वास्तव में इन कथाओं में कोई वैज्ञानिक तथ्य नहीं है। इसका रहस्य समझने के लिए दो एक और सही बातों का जानना ज़रूरी है जो पाठकों को पहले-पहल इस विषय से सम्बन्धित न जान पड़ेगी।

पहले-पहल १७वीं शताब्दी में रोमर नामक विद्वान् ने यह बात सिद्ध की कि मोती और सीप के छिलको (Shells) के कड़े भाग एक ही वस्तु चूने के कार्बोनेट (Carbonate of lime) से बने हुए हैं। यह वही पदार्थ है जो खड़िया और चूने के पथरीले पहाड़ों में पाया जाता है। समुद्र, नदी और तालाबों के जल में सदा ही कुछ चूना घुला रहता है। घोंघा-वंश के समस्त जलवासी जीव इसी चूने को चूसकर अपने नर्म शरीरों को ढकनेवाली कड़ी खोल या छिलके बनाते हैं। समुद्र के जल से चूसे हुए चूने को वे अपने शरीर से दो रूपों में प्रगट करते हैं। एक बनावट में खुरखुरा, थोड़ा-बहुत झिरझिरा और मोटा होता है और खोल का ऊपरी भाग बनाता है। दूसरा सुन्दर, महीन और चमकदार होता है तथा सीप और घोंघे की भीतरी तह का निर्माण करता है। इसकी सतह बिल्कुल चौरस अथवा चिकनी नहीं होती बल्कि उसमें लहरदार महीन-महीन धारियाँ होती हैं। सच्ची सीप से जो सुन्दर रंग हमको झलकते दिखलाई पड़ते हैं वे इन्हीं धारियों के कारण ही हैं। सीप मे रंग के दाने नहीं होते, बल्कि रोशनी जब इन महीन धारियों पर पड़ती है तो फट जाती है और इन्द्र-धनुष के समान अलग-अलग रंग दिखलाई पड़ने लगते हैं। मामूली घोंघों और सीपों में इन रेखाओं के कम ऊँची होने के कारण ही उनमें उतनी तेज चमक और झलक तथा उतने अच्छे रंग नहीं होते, जितने कि कस्तूरे में या अन्य मोतीवाली सीप अथवा बड़े शंखों में पाये जाते हैं। इसी भीतरी चमकदार तह को अँगरेज़ी में **"नेकर"** (Nacre) या **"मोतियों की माँ"** (Mother-of-Pearl) कहते हैं, क्योंकि उसी से मोती का जन्म होता है। सारे घोंघा-वंशजों को अपने कोमल शरीरों से छूनेवाली यह चिकनी तह अच्छी लगती है। यदि किसी प्रकार कोई ककड़ी, बालू का कण या लकड़ी का टुकड़ा अथवा और कोई ऐसी कडी वस्तु उनके शरीर और खोल (Shell) के बीच में अथवा शरीर के नर्म तन्तुओं में पहुँच जाती है तो वे अपने शरीर
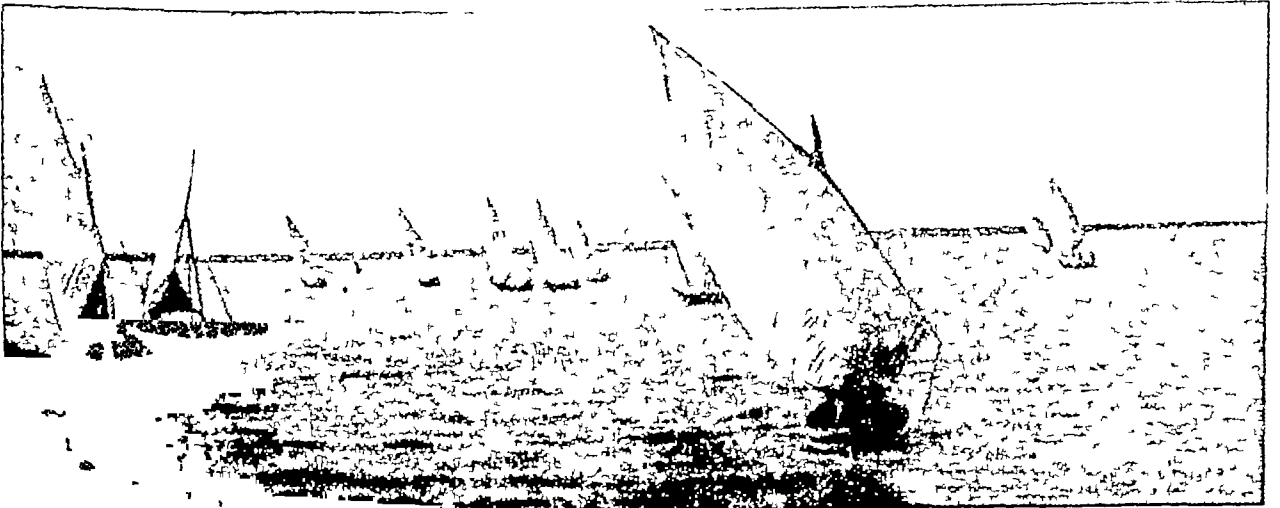
फारस की खाड़ी में मोती की खोज में व्यस्त बेड़ा

को उनसे बचाने के लिए उनके चारों ओर वही कार्बोनेट—जिससे वे अपनी खोल बनाते हैं तथा जिसको निकालने की शक्ति उनके शरीर में है—मढना शुरू कर देते हैं। इस प्रकार ये जीव उन बालू के कणा अथवा कंकड़ियों से मिलनेवाले दुःख से अपने शरीर को बचाने के लिए यत्न करते हैं। हमारे शरीर में यदि कहीं काँटा गड़ जाता है तो हम उसको अपने हाथों से निकाल फेंकते हैं परन्तु ये जीव ऐसा नहीं कर सकते। इसलिए उस कण को वे चूने से मढ़ देते हैं और अपने शरीर को पीड़ा से बचाते हैं। धीरे-धीरे इन कणों पर मढी हुई खोल कड़ी हो जाती है और उसके ऊपर लगातार नई तहें बनती जाती हैं, जिससे वे बड़े होकर सुन्दर गोल या लॅबछौंहे मोती बन जाते हैं।

जिस प्रकार खोल की भीतरी तह चिकनी और चमकदार होते हुए भी धारीदार होती है, उसी प्रकार इस भाँति बने हुए मोतियों की सतह पर भी बहुत नीची-ऊँची सूक्ष्म नालियाँ-सी होती हैं। इन्हीं के कारण मोतियों को अपनी चमक और दमक प्राप्त होती है। कस्तूरा जितने ही अधिक समय तक जीवित रहता है उतना ही मोती बड़ा होता है। हाल में पता लगा है कि लंका और भारतीय महासागर में जो सच्चे मोती पाये जाते हैं, और जिनकी गिनती संसार के सर्वोत्तम मोतियों में है, उनके बनने का कारण इससे भिन्न है। शायद आपने उन परोपजीवी कृमियों के बारे में पढ़ा होगा (देखिए अंक ६ पृष्ठ ७०७) जो फ़ीते के समान लम्बे और चपटे होते हैं। वे सब अन्य जानवरों के शरीर में ही रहते हैं। युवा कृमियों में कद्दू के बीज जैसे जोड़ होते हैं और वे इस अवस्था में पृष्ठवंशियों की आँतों में पाये जाते हैं, किन्तु इनके छोटे-छोटे बच्चे अंडों से निकलकर दूसरे योग्य जानवरों में घुसकर अपने जीवन का कुछ भाग वहीं बिताते हैं। एक प्रकार के ऐसे ही टैट्रारिंक्स नामक फ़ीते के आकार के कृमि (tape-worm) के बच्चे कस्तूरे की कड़ी खोल और नर्म लबादे के अन्दर गलती से पहुँचकर जब उसके शरीर में प्रवेश करने की कोशिश करते हैं तो वे गोल हो जाते हैं और कस्तूरा जल्द उन्हें उसी सीप बनानेवाली वस्तु से घेरकर क़ैद कर देता है जिससे वे वहीं मर जाते हैं। ज्यों-ज्यों ऐसे कीड़े की मोती वाली क़ब्र बढ़ती जाती है त्यों त्यों कस्तूरे के शरीर में कष्ट भी अधिक होने के कारण वह उसके ऊपर एक के बाद दूसरी नेकर की तह जमाता जाता है। इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते वह पूर्ण मोती हो जाता है। इस कीड़े के कारण बने हुए सच्चे मोती सबसे साफ़, सुन्दर, चमकदार और बिल्कुल गोल होते हैं।
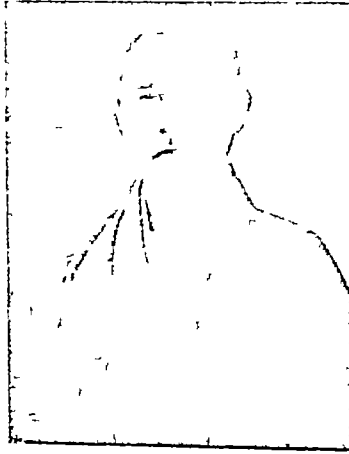
जापान के प्रो० कोकिची मिकीमोटो जिन्होंने सर्वप्रथम कस्तूरों से इच्छानुसार मोती बनाने की विधि निकाली।

इस तरह हम देखते हैं कि यह रत्न एक नीची जाति के छोटे से तुच्छ कीड़े की शानदार क़ब्र है।

मोती कई प्रकार के घोंघा-वंशजों में मिलते हैं और कई तरह के होते हैं लेकिन जो मोती जवाहरातों में सम्मिलित किये जाते हैं वे दो-तीन प्रकार के मार्जरेटीफ़ेरा (Margaratifera) नामक कस्तूरे और सीप में ही मिलते हैं। विलायत की नदियों में वास करनेवाली यूनियो जाति की सीप में भी मोती पाये जाते हैं। वेस्ट इन्डीज़ के द्वीपों में जो बड़ी जाति का शंख मिलता है उसमें गुलाबी रंग के मोती मिलते हैं।

जब मोती कस्तूरे के भीतरी खोल से चिपटा हुआ बनता है तब वह अर्द्ध-गोले का-सा होता है। यह खोल से अलग काट लिये जाने पर बटन-जैसा गोल होता है और इसीलिए ऐसे मोतियों को बटनवाले मोती (button-pearl) कहते हैं। सीप में जब ऊपरी किनारे के निकट मोती बनने लगता है तो वह चिड़िया के पर के समान लम्बा हो जाता है। कभी कभी दोहरे, तिहरे, चौहरे मोती बन जाते हैं। सर्व-सुन्दर और बहुमूल्य मोती तो वही माने जाते हैं जो गोल, चमकदार और सफ़ेद रंग के होते हैं। सर्वोत्तम मोती लंका के निकटवर्ती सागर में ही मिलते हैं तथा फ़ारस आदि अन्य पूर्वी देशों में भी पाये जाते हैं। बोर्नियो और सूलू नामक द्वीप समूह तथा ऑस्ट्रेलिया के पश्चिमी तटों पर भी अच्छे मोती पाये जाते हैं। कैलीफ़ोर्निया, मेक्सिको और पनामा की खाड़ी में भी मोती निकालने का व्यवसाय किया जाता है। परन्तु अमरीका के सागरों में मिलनेवाले मोती घटिया होते हैं।

भारतवर्ष में मोती कहाँ और कैसे निकाले जाते हैं ?

भारतवर्ष में गुजरात में द्वारका के समीप ओखामडल के ताल्लुक़े में तथा विशेषकर कच्छ की खाड़ी के गॅदले पानी में एक प्रकार का कस्तूरा मिलता है। यह 'खिड़की के शीशेवाले कस्तूरे' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अबरक़-जैसे पतले चमकदार, अर्द्ध-पारदर्शक, वृत्ताकार सीप के टुकड़े खिड़कियों में शीशे की जगह लगाये जाते हैं। इनमें छोटे-छोटे कम दामवाले मोती पाये जाते हैं जो बहुधा दवा के ही काम में आते हैं तथा विशेषतया चीन को भेजे जाते हैं। पहले सागर से इस जाति के कस्तूरों—प्लेकूनाप्लेसेन्टाज—को इकट्ठा करने और मोती निकालने का ठेका दे दिया जाता था। पर इस विचार से कि ये जीव कहीं बिल्कुल ही न समाप्त हो जायँ, कई वर्ष तक उनका निकालना बिल्कुल बन्द कर दिया गया। पारसाल बरौदा राज्य के मछली सम्बन्धी विभाग ने लगभग ३०० तोले मोती इकट्ठा किये थे। असली मोतीवाला कस्तूरा—मार्जेरेटीफेरा वलगेरिस (vulgaris)—भी थोड़ी सख्या में कच्छ की खाड़ी में पाया जाता है, किन्तु वह नवानगर के पथरीले तटो पर बहुधा मिलता है। इसी कारण जामनगर का मोती निकालने का व्यवसाय प्रसिद्ध है। कहते हैं, औरगजेब के काल में जामनगर के राजा ने मोतीवाली सीप पकड़वाना बन्द कर दिया था ताकि बादशाह को उस रियासत को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने का लालच न हो।
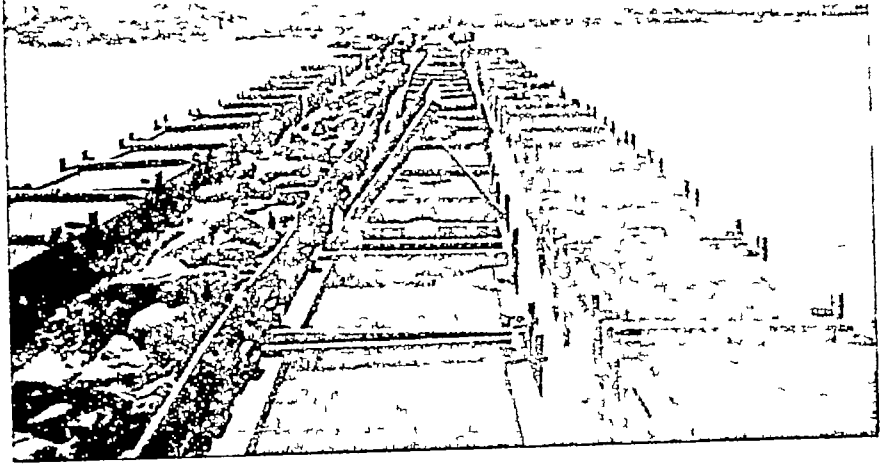
फ्रास के निकट जर्सी द्वीप में खाने के काम आनेवाले कस्तूरों की खेती की जाती है। चित्र में दूर तक समुद्र में चला गया एक कस्तूरों को पालने का अड्डा दिखाई दे रहा है।

लका और मद्रास के किनारे पर भी मार्जेरेटीफ़ेरा जाति का कस्तूरा अधिक पाया जाता है। लका में मनार की खाड़ी में विशेषतया इनका शिकार किया जाता है। फ़रवरी या मार्च के महीने में शिकार शुरू होता है और लगभग एक महीने तक चलता रहता है। शिकार मे नावों के एक बड़े बेड़े से काम लिया जाता है। कस्तूरा मछली लगभग ६०-७० फ़ीट की गहराई में मिलती है। नावो से गोता मारनेवाले पनडुब्बे मजबूत रस्सी के सहारे, जिसमें पत्थर बाँध दिया जाता है,
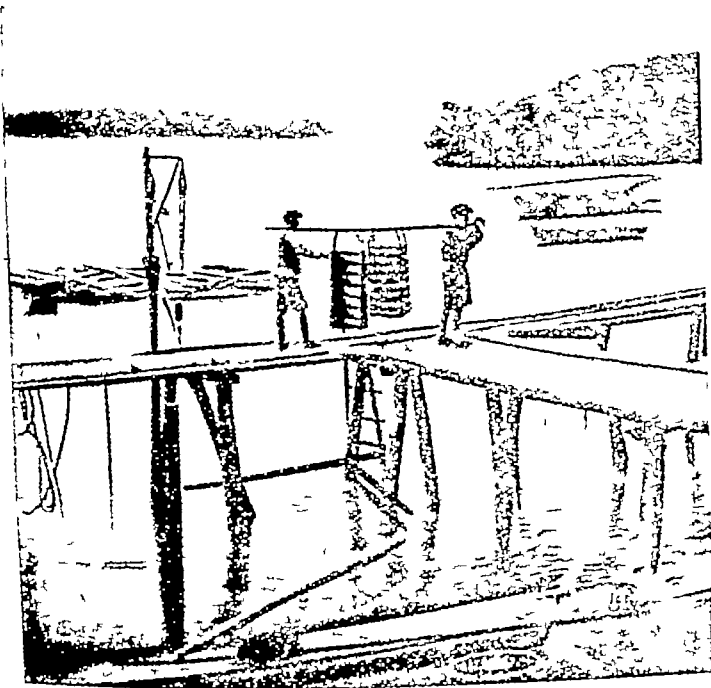
जापान में कस्तूरों की खेती के अड्डे पर दो मनुष्य कधे पर कस्तूरों के पिंजड़े लटकाये ले जा रहे हैं। हर छठे महीने ये पिंजड़े समुद्र से निकाल साफ़ किये जाते हैं।

पानी में उतर जाते हैं। दो-एक मिनट में जितने कस्तूरे वे अपने जाल में इकट्ठा कर पाते हैं उनके साथ पानी के ऊपर खींच लिये जाते हैं। एकत्रित कस्तूरों को तट पर ले जाकर ढेर लगा दिया जाता है। वहाँ लगभग १० दिन में उनके अन्दर का कीड़ा मरकर बिल्कुल गल जाता है। तब उन्हें समुद्र में धो लिया जाता है और उनमें मोतियों की खोज की जाती है। छिलकों को साफ़ करके भीतरी तह चीर ली जाती है और उससे बटन बनाये जाते हैं। फारस की खाड़ी में भी इसी तरह पुरानी प्रथा से ही पनडुब्बों द्वारा कस्तूरे का शिकार किया जाता है। हाँ, ऑस्ट्रेलिया के पनडुब्बे आधुनिक पनडुब्बी पोशाक पहनते हैं जिसके कारण वे पानी में अधिक देर तक रह सकते हैं।

जापान में मोतियों की खेती

समुद्र से मोती निकालना बड़े साहस और परिश्रम का कार्य है। उसकी खोज ख़तरे से खाली नहीं है। ऐसे परिश्रम के पश्चात् जो कस्तूरे मारे जाते हैं उनमें से लगभग ५ प्रति सैकड़ा में ही मोती पाये जाते हैं। प्रायः लोगों का ध्यान इस ओर गया कि यह नुक़सान कैसे रोका जाय और अपनी इच्छानुसार इन जीवों में सच्चे मोती कैसे बनाये जायँ। इस बात का सर्वप्रथम प्रयत्न चीनियों ने किया। मटर के बराबर छोटी-छोटी घिसी हुई मोती की गोलियाँ जीवित सीपियों के अन्दर घुसेड़कर वे पानी में उनका पालन करते थे। उसके बाद उन्हें खोलकर उनमें बना हुआ मोती निकाल लेते थे। लेकिन इनका मूल्य बहुत कम होता था। मोती की खेती में योरप में लीनियस
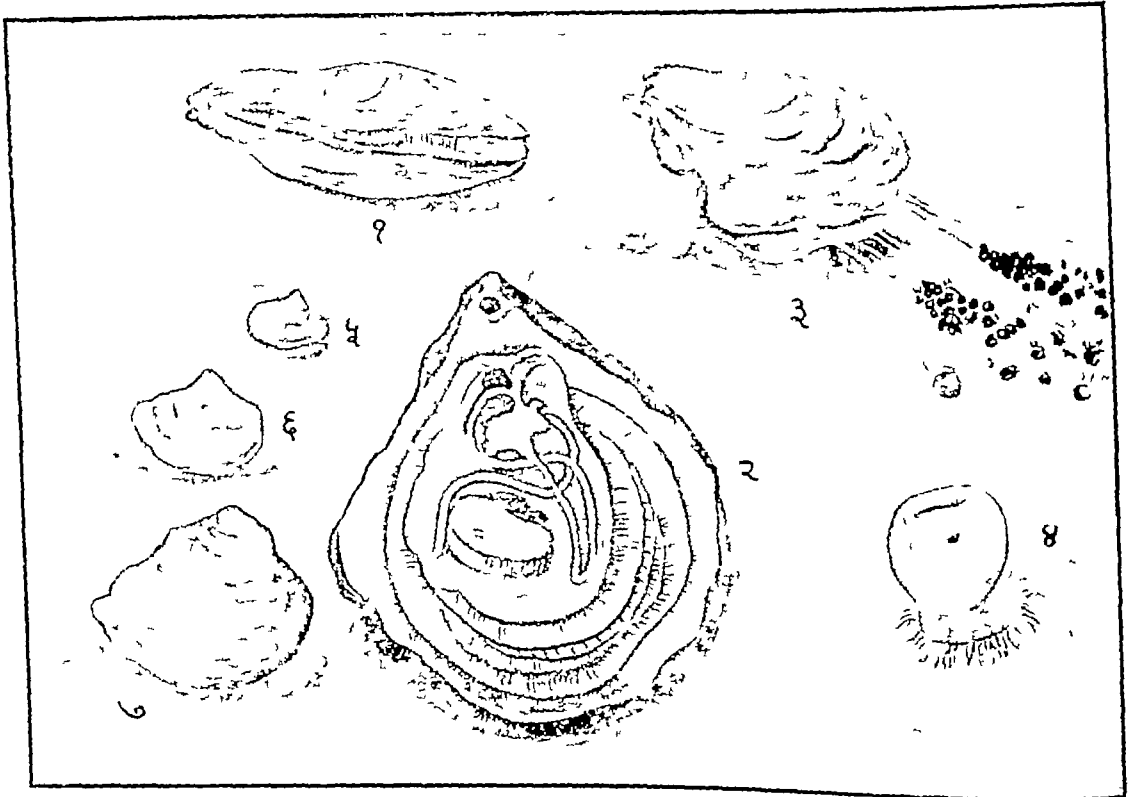
सामूली कस्तूरे की जीवन-कहानी—(१) अपने दोनों छिलकों को थोड़ा-सा खोले हुए एक कस्तूरा। जब छिलके इस प्रकार खुलते हैं तो उनके भीतर समुद्र का ओषजन तथा खाद्य-सामग्रीयुक्त जल घुस जाता है, जिससे भीतर के जीव का पालन होता है। (२) सीपी के भीतर कस्तूरे के शरीर का चित्र। दाहिनी ओर नीचे तक फैले हुए झालर-से गलफड़े हैं जो भीतर आनेवाले पानी से ओषजन चूसकर रक्त में पहुँचाते हैं। बीच में ऊपर की ओर मेदे की थैली और उससे निकलनेवाली पेचदार आँत है। उसके नीचे सेम के बीज की तरह का वह पुट्ठा है जिससे सीप के दोनों पर्त बन्द होते हैं। (३) युवा हो जाने पर कस्तूरे के शरीर से अंडों से उत्पन्न हुए छोटे-छोटे बच्चे इस तरह पानी की धार के साथ बाहर निकलते और अपने रोएँ द्वारा जल में तैरते हैं। (४) इनमें से एक का परिवर्द्धित चित्र। थोड़े समय के बाद ये किसी चट्टान से चिपट जाते हैं और रक्षा के लिए उनके ऊपर छिलका बनना शुरू हो जाता है। हर साल ये बढ़ते जाते हैं (नं० ५, ६, ७)।

और अमरीका में वेन्स साइमन्ड्स ने भी बहुत-कुछ सफलता प्राप्त की, लेकिन सबसे अधिक सफलता जापान के प्रो० कोकीची मिकीमोटो को मिली है। इन्होंने आठ वर्ष के परिश्रम के बाद ऐसा तरीक़ा निकाला, जिससे कि वह कस्तूरों में इच्छानुसार मोती तिजारती पैमाने पर बनाने लगे। शुरू में इन्होंने अपनी जाँच के लिए टटोकू द्वीप के इर्द-गिर्द १२ मील लम्बी और ६ मील चौड़ी तह का ठेका लिया था। किन्तु अब इनका मोतियो का खेत समुद्र मे ५० मील तक फैला हुआ है। कई सौ स्त्री-पुरुष उसमें काम करते हैं। मिकीमोटो के कस्तूरे का नाम मार्जेरेटीफ़ेरा मार्टेन्सियाई (Martensii) है। ये छोटे क़द के होते हैं और इनकी आयु १२-१३ वर्ष की होती है। कारीगर छिछले पानी में, जहाँ इनके इल्ले बहुत पाये जाते हैं, पत्थर और चट्टान के छोटे-छोटे टुकड़े रख आते हैं। इन पर शीघ्र ही इनके बच्चे अपने बनाये हुए डोरे द्वारा चिपट जाते हैं। तब वे टुकड़े इन जीवों सहित कुछ गहरे पानी में हटा दिये जाते हैं। तीन साल के बाद ये ऊपर निकाल लिये जाते हैं और उनकी सीपी को खोलकर उनके अन्दर नन्हे-नन्हे मोती या चमकदार छिलके के गोल टुकड़े रख दिये जाते हैं, जो कस्तूरे के अन्दर मोती बननेवाले केन्द्र का काम देते हैं। इसके बाद कस्तूरे फिर विशेष पिंजड़ों में बन्द करके लटका दिये जाते हैं (दे० पृ० ११०७ का चित्र)। चार वर्ष ये वहीं लटके रहते हैं। तब वे निकाल लिये जाते हैं और उन्हें खोलने पर नये बने हुए मोती निकलते हैं। ये मोती बिल्कुल असली मोती जैसे ही होते हैं। फ्रांस, जर्मनी और इटली में तो अब सभी रंग के नक़ली मोती—सफ़ेद, काले और गुलाबी—बनने लगे हैं।

खाने योग्य कस्तूरों को समुद्र-तट पर रहनेवाले लोग बड़ी रुचि से खाते हैं। जापान में मोती की खेती की तरह बहुत-से देशों में इनकी भी खेती होती है। खाने के लिए कस्तूरों की खेती प्राचीन रूमियों के ही समय से चली आ रही है। रूम के एक प्रसिद्ध चटोरे के बारे में कहा जाता है कि वह कस्तूरे का पहला कौर खाकर बतला सकता था कि वह कस्तूरा किस जगह का पला हुआ था। सर्जियस ऑरेटा नामक रूमी सबसे बड़ी संख्या में कस्तूरों की खेती करनेवाला था। वह कस्तूरों को लुक्रीन

एक फ्रेंच जहाज़ पर से लोग एक विशाल स्कुइड को ऊपर खींच रहे हैं। इनकी उभरी आँखें और भुजाएँ कितनी भयंकर हैं!
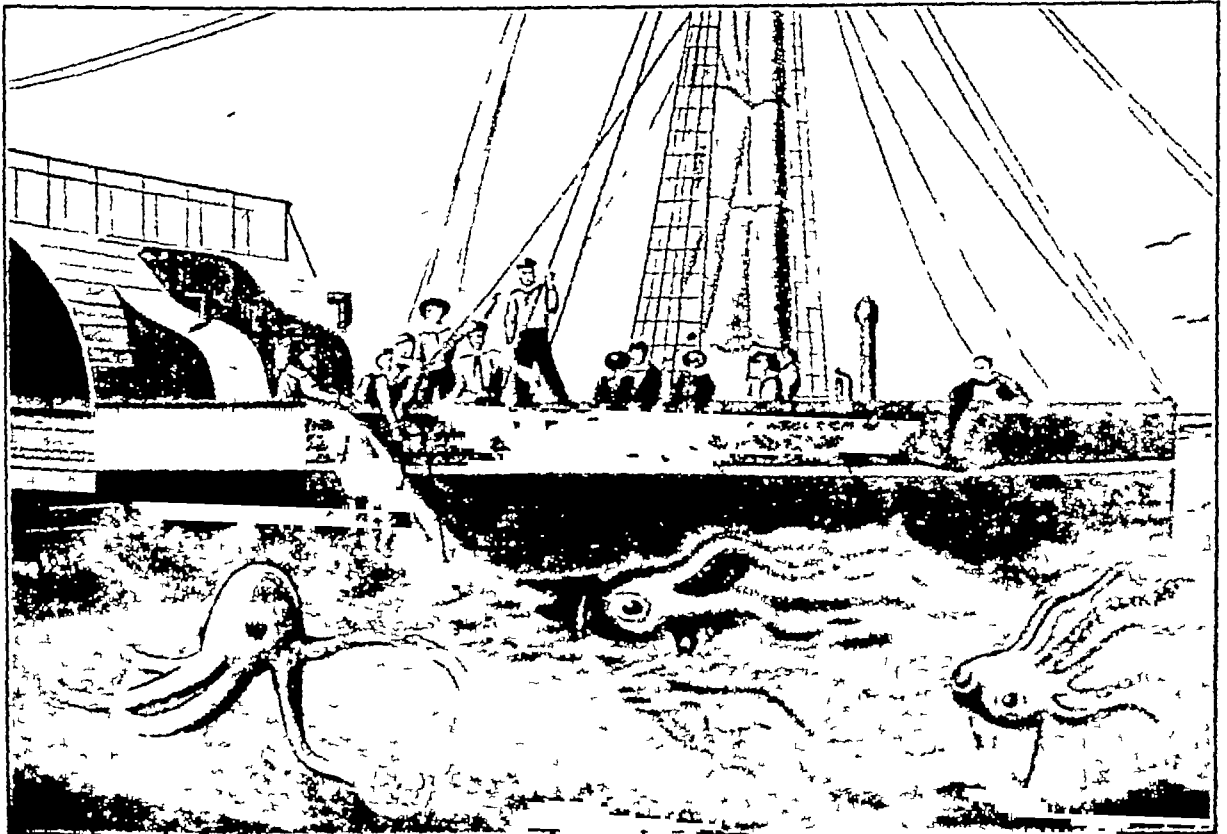
झील में पाला करता था। उसीके समय से अब तक वहाँ के कस्तूरों के स्वाद की तारीफ़ चली आ रही है।

सितम्बर से अप्रैल तक कस्तूरों का मौसम होता है। हिसाब लगाया गया है कि १ अरब ६० करोड़ कस्तूरे प्रति वर्ष पैदा किये जाते हैं। अमरीका में इससे भी तीन गुना अधिक पैदा होते हैं। उनका मूल्य ४ करोड़ रुपये है। इस व्यवसाय में वहाँ ५०००० मनुष्य लगे हुए हैं। फ्रांस में सर्वप्रसिद्ध कस्तूरों का पार्क अराकन में है। यहाँ कस्तूरे १० ०० एकड़ में फैले हुए हैं। सन् १८८४-८५ में लगभग १८ करोड़ कस्तूरे यहाँ से बाहर भेजे गये थे। इँगलैंड में व्हिट्सटेबल शहर में कस्तूरा के खेत ८७ वर्ग मील में फैले हुए हैं।

खाये जानेवाले कस्तूरे 'आस्ट्रिया' की भी जीवन कहानी बहुत-कुछ इन्हीं कस्तूरों की-सी है। स्थानाभाव के कारण यहाँ उसका विस्तृत वर्णन करने में हम असमर्थ हैं।

एक और समूह के घोंघावंशजों का वर्णन करके हम इस लेख को समाप्त करते हैं। इनको अंग्रेजी में 'क़िफ़ैलोपौड्स' (Cephalopods) अर्थात् सिर पर पैर रखनेवाले जीव कहते हैं, क्योंकि इनके मुँह की ओर आठ या दस लम्बे-लम्बे पैर-से अंग होते हैं। इन्हीं से ये चलने-फिरने का काम लेते हैं। ये मुख्य रूप से तीन प्रकार के होते हैं—ऑक्टोपस या अष्टपाद, कटल-फ़िश और स्कुइड। इन सबके ही शरीर ऊपर से नर्म होते हैं लेकिन खाल में छिपी हुई एक कड़ी ढाल रक्षा के लिए होती है। यही समुद्र के किनारे बहकर आ लगती हैं। इसी को लोग समुद्र-फेन के नाम से पुकारते हैं। ऑक्टोपस या अष्टपादों के आठ पैर होते हैं। उनकी लगभग ६० उपजातियों का अब तक पता लगता है। कोई-कोई बहुत बड़े होते हैं, किसी का बोझ ७५ टन तक होता है, किसी-किसी के पैर ५ फ़ीट तक लम्बे होते हैं। वे तैरने में अपने मुँह से पानी का फौव्वारा निकालते हैं तथा पैरों से भी सहायता लेते हैं। उनके दो बड़ी-बड़ी आँखें होती हैं, जो चौकसी करती हैं।
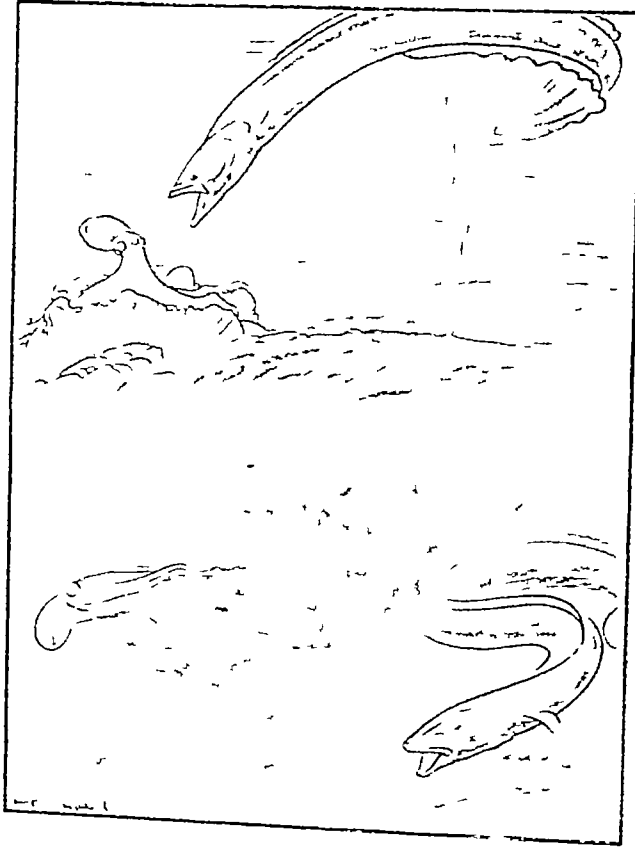
(ऊपर) एक शिकारी मछली द्वारा आक्रमण होने पर (नीचे) कटलफ़िश, शरीर की थैली से गाढ़ी-गाढ़ी स्याही जल्दी से पानी में फेंकते हुए पीछे को भाग रही है। यह स्याही पानी में धुएँ की तरह अंधकार कर देता है और शिकारी मछली उसे नहीं देख पाती। आजकल के युद्ध में शत्रु से बचने के लिए वायुयानों और पानी के जहाज़ों ने यही उपाय काम में लाना शुरू किया है।

स्कुइड और कटल-फ़िश के दस भुजाएँ होती हैं। न्यू फ़ाउंडलैंड में एक ७ फ़ीट लम्बा स्कुइड मिला था जिसकी दुम २ फ़ीट चौड़ी थी। उसकी लम्बी भुजाएँ २४ फ़ीट की तथा छोटी ६ फ़ीट की थीं। एक और स्कुइड पकड़ा गया, जो फैलाये जाने पर ५२ फ़ीट की लम्बाई का होता था। वज़न में वह १० मन से भी ऊपर था। कटलफ़िश या सीपिया छोटी होती हैं। ये सब बंगाल की खाड़ी और अरबसागर में भी मिलती हैं। पुरी में मल्लाह लोग स्कुइड को "कुमेटी बाबू" के नाम से पुकारते हैं। ये जीव समूहों में रहते हैं, इसलिए उन मल्लाहों का ख्याल है कि वे कमेटी करते हैं। इन सब सिर पर पैर रखनेवालों के शरीर में एक प्रकार की स्याही की थैली होती है। जब कोई बड़ी मछली या अन्य समुद्री शत्रु उन्हें पकड़ने को दौड़ता है या शत्रुओं के आने का इन्हें खटका होता है तो वे थैली की स्याही को बाहर फेंक देते हैं, जिससे सामने का पानी काला हो जाता है और शत्रु उन्हें नहीं देख सकता। इसी काले पानी की आड़ में ये जीव पीछे भाग जाते और इस तरह शत्रुओं से अपनी रक्षा करते हैं।

मनुष्य की कहानी
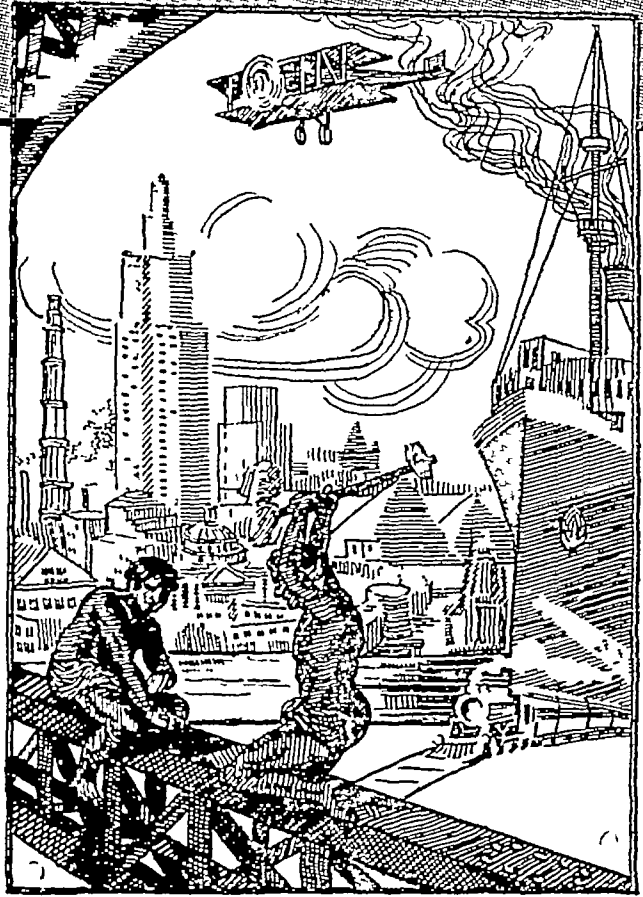
खाल की चोट कैसे अच्छी हो जाती है?

चित्र में बाईं ओर घाव में जमे हुए खून के नीचे एक रक्त-केशिका घुसती हुई नजर आ रही है और दाहिनी ओर के हिस्से में दिखलाया गया है कि घाव भर जाने पर स्थाई चिह्न बन जाता है और इस जगह के बाल हमेशा के लिए गिर जाते हैं।
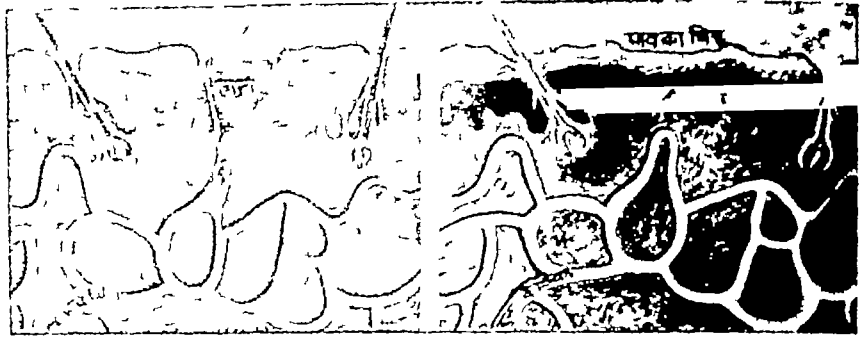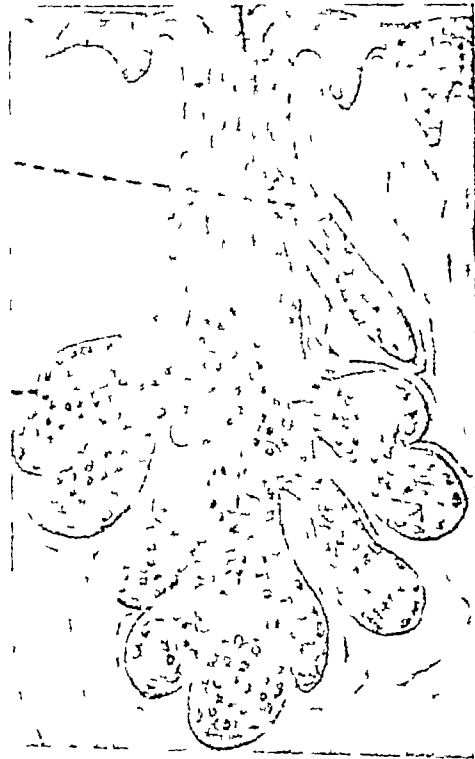
बाल और उसको चिकना रखनेवाली गुत्थियों के कोश
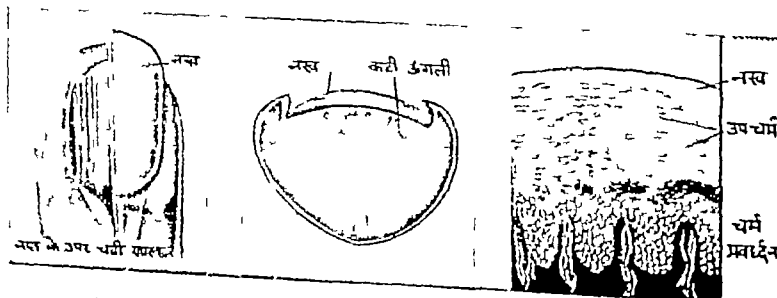
नाखून की रचना

(१) आधा नाखून काटकर नीचे की खाल, जो उससे चिपटी हुई होती है, दिखाई गई है। (२) यह दिखाया गया है कि नाखून उँगली में किस प्रकार बढ़ता है। (३) नाखून और उससे लगी हुई खाल का एक वर्क दिखाया गया है।

हमारा अद्भुत शरीर-यंत्र

उसके मुख्य संस्थान, तत्त्व और चर्म—(२)

त्वचा के कर्त्तव्य

त्वचा की रचना का वर्णन करने में उसके कर्त्तव्यों का भी थोड़ा-बहुत ज़िक्र आ गया है। अब यहाँ हम उसके कर्त्तव्यों के विषय में कुछ और मनोरंजक बातें बतलाना चाहते हैं। त्वचा के कार्यों का एक नक़्शा इसी पृष्ठ पर आपके सम्मुख है। त्वचा का सबसे पहला काम शरीर की रक्षा है। उपचर्म का ऊपरी मरा हुआ चीमड़ पर्त चीन की बड़ी दीवाल के समान हवा, धूल और गर्द में रहनेवाले सूक्ष्म जीवाणुओं की फ़ौजों से हमको सुरक्षित रखता है। जब तक हमारी चर्म की यह निराली दीवाल नहीं टूटती ये भयंकर शत्रु शरीर-रूपी क़िले के भीतर प्रवेश नहीं कर सकते और न कुछ हानि ही पहुँचा सकते हैं। किसी कारण से जब ऊपरी पर्त घायल हो जाती है तो इन नन्हें शत्रुओं को शरीर में घुसने का अवसर मिल जाता है। यदि टिटैनस के समान कोई कीटाणु घाव में घुस जायँ तो जल्दी ही मौत के पंजों में फँसना पड़ता है। मवाद के कृमि यदि पहुँच जायँ तो घाव विषैला हो जाता है और फिर उसका अच्छा होना असंभव हो जाता है। पर इन शत्रुओं के भीतर घुस जाने पर भी हमारा शरीर उन्हें बाहर निकालने के प्रयत्न करता है। हमारे शरीर के रक्षक कोषों से इन कीटाणुओं का घोर युद्ध होता है। स्थानाभाव के कारण यहाँ इस युद्ध का रोचक वर्णन करने में हम असमर्थ हैं।

हमारा शरीर कैसे ग्रीष्मऋतु में ठंडा और शीतकाल में गर्म रहता है?

खाल का दूसरा कर्त्तव्य हमारे शरीर के ताप को ठीक रखना है। हमारे लिए यह बहुत आवश्यक है कि शरीर का ताप एकसाँ रहे। इस बात की सबसे अधिक आवश्यकता हमारे मस्तिष्क को है। पेशियाँ बहुत-कुछ ठंडी हो जाने पर भी अपना काम कर लेती हैं। यही हाल गुर्दे-जैसे गुत्थीवाले अन्य अंगों का भी है, लेकिन मस्तिष्क की गर्मी कुछ ही डिग्री बढ़ जाने से हम बेसुध हो जाते हैं। तेज़ बुखार आने पर हमें सरसाम हो जाता है। इसके विरुद्ध थोड़ी गर्मी कम हो जाने पर भी हम बेहोश हो जाते हैं और जीवन सकट में पड़ जाता है। ९८·४° F से जब हमारा ताप बढ़ता है तो कहा जाता है कि बुख़ार है। किसी-किसी का मस्तिष्क तो १०४° या १०५° तक पहुँचने से पहले ही अपनी ठीक अवस्था में नहीं रहता। दूसरी ओर ताप ९७° से नीचे गिरते ही जान खटके में आ जाती है। इसलिए शरीर का ताप ९८° F के लगभग रहना बहुत ही जरूरी है। इस काम को करनेवाले अंगों में त्वचा सबसे मुख्य है। वह इस कार्य को बड़ी ख़ूबी के साथ कुछ तो 'रेडिएटर' की भाँति ख़ून को ठंडा करके और कुछ पसीने के द्वारा पूरा करती है। हमारी पेशियाँ

रक्षा
पानी, जीवाणु तथा तेज़ धूप से रक्षा करना

ताप का नियंत्रण
स्वेद-गुत्थियों और रक्त-केशिकाओं द्वारा शरीर के ताप को एकसाँ रखना

चर्म

सांवेदनिक क्रियाएँ
स्पर्श-शक्ति द्वारा चीज़ों की शक्ल-सूरत, नर्मपन कड़ेपन या गर्मी-सर्दी का ज्ञान कराना
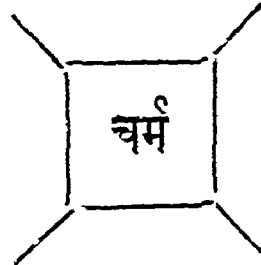
मलोत्सर्जन
पसीने द्वारा दूषित पदार्थों को त्यागना

चर्म के नाना प्रकार के कर्त्तव्य

और अंगों में सदा अग्नि बनती रहती है और खाल से वह बाहर निकलती रहती है। अतः शरीर में पैदा होनेवाला ताप खून की रगों द्वारा हमारी खाल में पहुँचता है और वहाँ से उपचर्म के नीचे फैली रहनेवाली छोटी केशिकाओं में पहुँचकर जब बाहर निकल जाता है तब रक्त ठंडा हो जाता है। जब ताप शरीर में आवश्यकता से अधिक बनता है या जब हवा हद से ज्यादा गर्म हो जाती है तो खाल से गर्मी का बाहर निकलना भी उसी हिसाब से बढ़ जाता है। जब ऐसी गर्मी होती है तो मस्तिष्क नाड़ी के तारों द्वारा हुक्म देता है, जिससे खाल में आनेवाली रक्त-नलियाँ फैल जाती हैं, ताकि बहुत-सा खून खाल में आकर ठंडा हो सके। पसीना भी तेजी से निकलने लगता है और भाफ बनकर उड़ते हुए शरीर की सतह को ठंडा कर देता है। यह क्रिया ठीक उसी प्रकार होती है जैसे कि गर्मी के दिनों में सुराही में रक्खे हुए पानी के भाफ बनकर ठंडा होने में होती है। अधिक खून दौड़ने के ही कारण तेज धूप में चलने या तेजी से दौड़ते समय हमारा चेहरा लाल हो जाता है।

इसके विरुद्ध शरीर में ताप बनने की गति जब धीमी हो जाती है, और ठंडक अधिक पड़ने लगती है, तब शरीर से गर्मी का निकलना रोकने के लिए हमारी खाल सिकुड़ जाती है। तेज़ सर्दी में हाथ पैर ठिठुरने लगते हैं, खाल पीली पड़ जाती है, रक्त-नलिकाएँ सिकुड़ जाती हैं और खाल में आनेवाले खून की मात्रा कम हो जाती है। पसीना निकलना भी बन्द हो जाता है और खाल की सतह खुश्क रहती है। यही कारण है कि शीतकाल में हमारी खाल सूखी-सी हो जाती है, हाथ-पैर-मुँह फटने लगते हैं, और इसको रोकने के लिए हम वैसलीन, ग्रीज़ आदि भाँति-भाँति की वस्तुओं का उपयोग करते हैं। नहरों या नदियों में जिस प्रकार पानी रोकने के लिए लगाये गए फाटक धारा का नियन्त्रण करते हैं उसी प्रकार गर्मी की धारा की गति को खाल रूपी फाटक वश में रखता है।

हमारी दो गज खाल ही हमें अत्यन्त गर्म स्थानों में काम करने के योग्य रखती है

खाल का ठंडा पड़ जाना खतरनाक है—यह विचार गलत है। खाल के ठंडे पड़ जाने का यही अर्थ है कि रक्त सर्दी के कारण भीतर की ओर हट गया है ताकि शरीर का ताप क़ायम रहे। डर तो उस समय होता है जब सर्दी होते हुए भी चर्म गर्म खून से भर जाय। शीत का सामना करने के पहले मदिरा पी लेने से कभी-कभी इस भयंकर अवस्था का सामना करना पड़ता है। मदिरा से खाल की रक्त-वाहिनी रगें फूल जाती हैं और उन्हें सिकुड़ने से रोकती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि खून ठंडा होकर भीतर के अंगों में पहुँचने लगता है। इस क्रिया से ताप रुकने के बदले शरीर से निकल जाता है। ज्वर की अवस्था में कभी-कभी जब पसीना नहीं निकलता तब शरीर की गर्मी अधिक बढ़ जाती है। उस समय उसे कम करने के लिए पसीना लाने की औषधियों का प्रयोग किया जाता है या ताप घटाने के लिए रोगी को नहलाया भी जाता है। वाष्पीकरण से ठंडक पहुँचना एक बड़ी ही विचित्र बात है। इसी के सहारे बहुत ऊँचे ताप में भी शरीर का ताप-क्रम अधिक नहीं बढ़ने पाता। कई गर्म भट्ठियों पर काम करनेवाले प्रतिदिन २५०° F के ताप में काम करते रहते हैं, फिर भी उनके शरीर का ताप मुश्किल से ही थोड़ा बहुत बढ़ता है। शैबर्ट नामक प्रसिद्ध अग्नि-बादशाह ४००°-६००° F तक की गर्मी में भट्ठी में घुस जाया करता था। वास्तव में हमारी दो गज खाल ही हमें बहुधा जिन्दा भुन जाने से बचाती है!

खाल के द्वारा सर्दी-गर्मी, स्पर्श, पीड़ा आदि का ज्ञान हमें होता है

हम पहले बतला चुके हैं कि खाल भर में छोटे-छोटे सावेदनिक कण या प्रवर्द्धन (Sensory papillæ or corpuscules) होते हैं जो महीन नाड़ियों के तार द्वारा मस्तिष्क से सम्बन्धित हैं। जब हमारी खाल से कोई चीज छूती है तो इन्हीं कणों द्वारा हमको उसकी रूपरेखा का अनुमान हो जाता है और यह भी पता चल जाता है कि वह गर्म है या ठंडी। इन्हीं कणों से दबाव और पीड़ा का ज्ञान भी होता है। आम तौर से यह समझा जाता है कि सारी खाल पर सर्दी-गर्मी, स्पर्श पीड़ा आदि का अनुभव एक-सा ही होता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इन चारों संवेदनाओं का पता लगाने के लिए भिन्न-भिन्न सावेदनिक कण हुआ करते हैं। किसी जगह एक प्रकार के बिन्दु अधिक रहते हैं और किसी जगह दूसरी प्रकार के। अनुभवी लोग कपड़ों पर लोहा करने के लिए जब लोहे को गर्म करते हैं तो उसको गालों के पास लाकर उसकी गर्मी का अन्दाज लगा लेते हैं, क्योंकि गर्मी का ज्ञान करानेवाले बिन्दु गालों में ही सबसे अधिक होते हैं। परन्तु कपड़े की अच्छाई-बुराई को हम उँगलियों के छोर से ही जाँचते हैं, क्योंकि अनुभव से हम जान जाते हैं कि उँगलियों के सिरों में ही सबसे अधिक स्पर्श-शक्ति है। उँग-

लियों के पीछे का हाथ का भाग कम सवेदनामय है। शरीर के अगले भाग से पिछला भाग कम सवेदनामय होता है। शरीर भर में सबसे नाजुक, पता लगानेवाले सावेदनिक विन्दु जीभ पर हैं। सर्दी-गर्मी, स्पर्श पीड़ा के अनुसार खाल को कई क्षेत्रों में बॉटा जा सकता है। एक गर्म सुई की नोक यदि आप अपनी बॉह पर फेरें तो स्वय जान लेंगे कि सुई किसी-किसी जगह अधिक गर्म मालूम पड़ती है और किसी जगह कम। इसी प्रकार ठडी सुई से ठडे विन्दुओं को ढूँढ सकते हैं। शरीर में ठडे विन्दुओं की सख्या गर्म विन्दुओं की सख्या से कहीं अधिक है। यही कारण है कि यदि हम एक लोटे में गर्म पानी भरें और दूसरे में कुनकुना (पहले से आधा गर्म) तथा दोनों में हाथ डालें तो कुनकुना पानी हमें बिल्कुल गर्म नहीं जान पड़ता। मस्तिष्क को गर्म विन्दु यह खबर देते हैं कि पानी गर्म है। परन्तु ठडे विन्दु इस बात पर जोर देते हैं कि पानी ठडा है। अब चूँकि ठडे विन्दु अधिक हैं इसलिए उनकी ही बात मानी जाती है। खाल के रक्त-सचार में परिवर्तन हो जाने से हमें गुदगुदी या खुजली लगती है।

अब तक हमने खाल का वर्णन एक रक्षा करनेवाले गिलाफ़, सावेदनिक अग और ताप का नियत्रण करनेवाले साधन के रूप में किया है, परन्तु उसके कई और कर्त्तव्य भी हैं। वह सॉस लेती है, सॉस लेने की गति को ठीक रखती है तथा दूषित पदार्थों को बाहर निकालती है। इन्हीं के विषय में अब हम आपको कुछ बतलायेंगे।

खाल से भी हम सॉस लेते हैं

जिस प्रकार हम अपने फेफड़ों से सॉस लेते हैं उसी प्रकार खाल द्वारा भी ओषजन सोखने और कार्बन-डाइऑक्साइड बाहर निकालने में हम सहायता मिलती है। यह जरूर है कि खाल की श्वासोच्छ्वास करने की शक्ति क्षीण है, फिर भी उपेक्षा करने योग्य नहीं है। खाल केवल सॉस ही नहीं लेती, बल्कि वह श्वासोच्छ्वास और रक्त-सचालन को बहुत हद तक वश में रखती है। बच्चा उत्पन्न होने पर बहुधा दाइयाँ उसकी खाल पर हाथ फेरकर उसको उकसाती हैं और श्वासोच्छ्वास को उत्तेजित करती हैं। रक्त-सचालन और श्वासोच्छ्वास जीवन भर खाल के प्रत्यावर्त्तनों के अधीन रहते हैं। ठडे पानी में कूदने से हमारी सॉस फूलने लगती है। जब हम थक जाते हैं या मूर्च्छित होने लगते हैं तो स्वच्छ और शीतल वायु के झोंके फिर हमारे हृदय को ताजा बना देते हैं और हममें पुनः स्फूर्ति का सचार हो जाता है। इसीलिए शरीर को बहुत-से कपड़ों से ढँके रखना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। जो लोग जरूरत से ज्यादा कपड़ा पहनने के आदी हो जाते हैं वे शायद ही बलवान् होते हो। चर्म की नाड़ियाँ कपड़ों से ढके रहने के कारण उन उत्तेजनाओं से दूर रहती हैं जिनका सामना करने के लिए वे बनाई गई हैं। इसलिए जब कभी अचानक उन्हें वैसी उत्तेजना का सामना करना पड़ता है, तब वे अपने कर्त्तव्यों को भूल जाती हैं अथवा उनका उचित पालन नहीं कर पातीं। जो लोग सुकुमार समझे जाते हैं और प्रतिदिन ही सर्दी और जुकाम के शिकार बने रहते हैं, वे वही होते हैं जो अपने चर्म को जल और वायु से दूर रखते और ढके रहते हैं। चर्म तो इसीलिए बना है कि उसमे शुद्ध वायु लगती रहे, उसकी सतह से भाफ़ उडती रहे, वह बराबर श्वासोच्छ्वास और रक्त-सचालन करनेवाले केन्द्रों को सूचनायें देता रहे। यदि हम उसे हवा के झोंकों और पानी की लहरों से बचाये रहेंगे तो हम ही उसको अपने आवश्यक कार्यों के करने मे असमर्थ बनाने के उत्तरदायी होंगे। चलती हुई हवा हमारे दिल, दिमाग और शरीर के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वायु के झोंके तभी हानिदायक होंगे जब वे खाल के किसी एक ही भाग पर आकर टकराते हों, या इतने ठडे हों कि जिनसे शरीर का ताप घट जाय, अथवा उनमें गर्द और धूल भरी हो।

अन्त में, हमारी खाल पसीने ही के रूप मे नहीं बल्कि अन्य रूपों में भी शरीर के दूषित पदार्थों को निकालती है। इस प्रकार वह गुर्दों को भी सहायता देती है। स्नान के वक्त शरीर का बहुतेरा विष खाल से होकर निकल जाता है। उपचर्म से मरे हुए कोष, जो सदा झड़ते रहते हैं, निस्सन्देह बहुत-सी त्याज्य वस्तुएँ अपने साथ ले जाते हैं। चेचक, मोतीझरा, लाल बुखार, खुजली और ख़ारिश में जो दाने या खुरट बनते हैं, वे सब खाल के द्वारा शरीर की मलिन वस्तुओं को बाहर निकालने के प्राकृतिक प्रयत्नो के नमूने हैं।

बालों की रचना

शरीर के बहुत से भागों में खाल के अन्दर ऐसे विशेष कोष पाये जाते हैं जिनसे बाल और नाखून निकलते हैं। सिर्फ़ हथेली और तलवों ही में ये कोष नहीं होते। हम जानते हैं कि बाल खाल मे गड़े होते हैं और कभी-कभी उखाड़ने पर बाल की जड (जो लहसुन के जैसी ऐसी होती है) पूरी उखड़ आती है। इस तरह आप देखते हैं कि बाल के दो भाग होते हैं—पहला वह जो खाल के बाहर निकला रहता है और दूसरा उसकी बल्बनुमा जड़। ये बल्ब, जिनसे बाल उगते हैं, बहुत पेचीदा और

सुन्दर बने होते हैं और ये ही बाल के जीवित भाग हैं। शेष सब बाहरी बाल और खाल के भीतर का कुछ भाग निर्जीव होता है। बाल की बाहरी और भीतरी रचना पृ० १११२ के चित्र में दिखलाई गई है। बाल के सबसे ऊपर का पर्त चिकना और पारदर्शक होता है, जिसके चीमड कोष एक दूसरे को खपरैल के समान पकड़े रहते हैं। इससे भीतरवाली तह में रंग देनेवाला पदार्थ होता है और सबसे भीतर की तह में नर्म कोष होते हैं। भीतर के दोनों पर्तों में बहुधा हवा से भरे शून्य स्थान होते हैं। जब ये स्थान अधिक बढ़ जाते हैं तो बाल सफ़ेद हो जाते हैं। काले बालों में ये हवा-भरी जगहें क़रीब-क़रीब बिल्कुल नहीं होतीं। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है, बाल की जडवाले कोष कमजोर होने लगते हैं, रंग बनना कम हो जाता है और हवावाले स्थान अधिक बढ जाते हैं।

खाल में दबी हुई बाल की जड एक और थैली से घिरी रहती है जो उखड़े हुए बाल में कभी-कभी सफ़ेद-सी नजर आती है। असली जीवित रूप तो अधिकतर भीतर ही रह जाता है। बाल की थैली के चारों ओर नाड़ियों की एक संवेदनिक पेटी होती है जिसके अन्दर एक या दो चर्बी की गुथियों के मुँह खुलते हैं। इन गुथियों से तेल की तरह का एक चिकना पदार्थ निकलता रहता है जिसके कारण बाल और खाल नर्म रहते और सूखने तथा चटखने से बचे रहते हैं। प्रत्येक बाल की जड़ से एक मांसपेशी लगी रहती है। जब वह सिकुड़ती है तो बाल खिंच जाता है और सीधा खड़ा हो जाता है। किन्तु ऐसा अन्य जानवरों में ही अक्सर होता है। हम देखते हैं कि कुत्ते या बिल्ली को अचानक क्रोध आने या भय लगने पर उनके बाल सीधे खड़े हो जाते हैं। वे बाल खड़े होने पर पहले से अधिक मोटे और डरावने दिखलाई पड़ने लगते हैं। हमको भी जब कभी बहुत डर लगता है तो ऐसा जान पड़ता है मानों हमारे रोयें खड़े हो गये हों, यद्यपि ऐसा होता नहीं है। कहा तो बहुधा जाता है कि भय के कारण रोंगटे खड़े हो गये। घने बालों के बीच में हवा रुक जाती है और खाल से गर्मी का निकास कम हो जाता है। कदाचित् यही कारण है कि अधिक सर्दी में स्तनपोषियों के बाल खड़े हो जाते हैं। चिड़ियाँ भी अपने पर फुला लेती हैं जिससे कि बालों और परों में रुकी हुई हवा की जाकेट मोटी हो जाय। हमारे शरीर पर उतने बाल न होने के कारण हम अपने को सर्दी से बचाने के लिए कम्बल, रजाई, टोप और ओवरकोट का प्रयोग करते हैं। स्वाया मनुष्य बाल या पर पैदा करने में असमर्थ होने के कारण दूसरे पशुओं के बाल या पर चुराकर या काटकर अपने काम में लाता है।

हिसाब लगाया गया है कि एक मामूली मनुष्य के सिर पर लगभग १२०००० बाल होते हैं। यदि ६०० बाल बराबर-बराबर सटाकर रक्खे जायँ तो १ इंच जगह घेरेंगे। लाल सिरवाले मनुष्यों के बाल काले सिरवालों से अधिक मोटे और कम होते हैं। एक मामूली स्त्री के बालों का बोझ, यदि वे न काटे गये हों, लगभग पाव भर होता है। मनुष्य का एक बाल क़रीब दो छटाक बोझ साध सकता है और उसकी आयु लगभग साढे चार वर्ष होती है। कहा जाता है कि रात की अपेक्षा बाल दिन में अधिक बढ़ते हैं तथा गर्मी में उनकी वृद्धि सर्दी से अधिक तेजी से होती है।

भौं और पलक के बिन्ने केवल सुन्दरता के ही लिए नहीं हैं, यद्यपि यह बात जरूर है कि उनके बिना हमारा चेहरा बड़ा ही बदसूरत मालूम होगा। परिश्रम करते समय माथे पर पसीना आ जाता है। यदि भौंहें न हों तो वह पसीना आँखों में चला जाय। पसीने में शरीर के दूषित पदार्थ मिले होते हैं और वे पदार्थ आँख में जलन और तकलीफ़ पैदा कर सकते हैं। अतः भौंहें आँखों को इस संकट से बचाती हैं। पलक के बिन्ने धूल और गर्द से हमारी आँखों की रक्षा करते हैं। इसके अतिरिक्त भौं और बिन्ने दोनों ही आँखों को तेज रोशनी से भी बचाते हैं।

हमारे नाख़ून

यह कैसी मजेदार बात है कि हमारे नाख़ून चील के चंगुल, बिल्ली के पंजे और घोड़े के खुर के अनुरूप हैं! यह बात अवश्य है कि जानवर अपने चंगुल, पंजों और नख से शिकार पकड़ने, उनके सहारे चलने या पेड़ पर चढ़ने का ही काम नहीं लेते, वरन् एक दूसरे को नोचने, खसोटने और पंजा मारने में भी उनका प्रयोग करते हैं। इसके विपरीत हममें इन अंगों की अब कोई विशेष उपयोगिता नहीं रह गई है। हमारी उँगलियों में नख होते हैं लेकिन वे इतने पतले और कमजोर होते हैं कि उनसे कोई विशेष काम नहीं लिया जा सकता।

बालों के समान नाख़ून भी उपचर्म की भीतरी तहों से ही बनते हैं। बालों की ही तरह वे नीचे से ऊपर और पीछे से आगे की ओर बढ़ा करते हैं अर्थात् नाख़ून की बाढ़ दो दिशाओं में होती है—एक तो जड़ में अर्थात् उस भाग में जो पीछे की ओर खाल से ढका रहता है और दूसरी उसकी तह में—नीचे की ओर—जिससे उसकी

मोटाई एकसाँ रहती है। साधारणतया हम अपने हाथ के नाख़ूनों से १ इंच का बत्तीसवाँ भाग प्रति सप्ताह काटा करते हैं। इस हिसाब से वर्ष भर में डेढ़ इंच या २ नाख़ूनों की लम्बाई की बाढ़ होती है। पैर के नाख़ून हाथ के नखों की अपेक्षा बहुत धीरे बढते हैं।

नाख़ून में दो मुख्य तहें होती हैं। एक महीन बढनेवाली या उकसनेवाली भीतरी तह होती है जो असली चर्म से चिपटी रहती है—कभी अलग नहीं हो सकती। दूसरी तह मोटी और कड़ी होती है। इसके सारे कोष निर्जीव होते हैं और बालों के सदृश पूरे-पूरे उखाड़े जा सकते हैं। इनके उखाड़ने से वे कोष नष्ट नहीं होते जो उन्हें बनाते हैं। क्रिकेट खेलने में या अन्य किसी कारण से जब नाख़ून पर चोट लग जाती है तो नाख़ून नीला पड़ जाता है। आपने कभी सोचा है कि ऐसा क्यों होता है? चोट से नाख़ून की भीतरी तह में आनेवाली ख़ून की कोई रग फट जाती है और ख़ून निकलकर जम जाता है। यह ख़ून पहले नीला रहता है और बाद में काला हो जाता है। नख का अधिक भाग घायल हो जाने से धीरे-धीरे नया नाख़ून बनने लगता है और पुराना ढीला पड़कर गिर जाता है। कभी-कभी ऐसी चोट लग जाती है, जिससे नाख़ून बनानेवाले कोष घायल हो जाते हैं। ऐसी दशा में दूसरा नया नाख़ून कभी नहीं बन पाता।

नाख़ूनों के विषय में एक और मनोरंजक बात सुनिए। क्या आप जानते हैं कि उन पर बीमारियाँ अपने स्मृति-चिह्न बना जाती हैं? कोई मनुष्य यदि कड़ा बीमार हुआ हो और उसके अच्छे होने के कुछ मास बाद यदि आप उसका नाख़ून देखें तो आपको उसके नाख़ून में एक छोर से दूसरे छोर तक एक लकीर या मेंड़ दिखलाई देगी। बात यह है कि बीमारी में तन्तुओं की जीवनी-शक्ति घट जाने के कारण नाख़ून की बाढ़ रुक गई थी। यह लकीर या मेंड़ फिर नई बाढ़ शुरू होने की जगह का निशान है। नाख़ूनों को देखने से स्वास्थ्य का भी पता लग जाता है। हृदय-रोग होने के कारण वह बहुधा टेढ़ा और गोल हो जाता है। उँगलियों के छोर में ख़ून के आजादी से न बढ़ सकने के कारण ही नाख़ून गोल और टेढ़े हो जाते हैं। गठिया, खुजली, ख़ारिश या अन्य चर्म-रोगों के कारण नाख़ूनों में धारियाँ पड़ जाती हैं और वे जल्दी ही फटने लगते हैं।

खाल, बाल और नाख़ूनों की रक्षा

त्वचा के विषय में हम जो कुछ बतला आए हैं उसे पढ़कर आपको यह विदित हो गया होगा कि शरीर के अन्य अंगों के समान हमारा चर्म भी अत्यन्त आवश्यक अंग है। पर बहुधा देखा जाता है कि साधारण लोग उसकी रक्षा पर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि देना चाहिए।

हम यह लिख चुके हैं कि खाल की ऊपरी सतह से मरी हुई खाल प्रतिदिन ही झड़ती रहती है तथा तेल की गुत्थियों से खाल को नर्म करने के लिए तेल निकलता रहता है। यह भी आप जानते ही हैं कि पसीने के साथ नमक तथा सारहीन पदार्थ भी निकलते रहते हैं। यदि सफाई न की जाय तो मरी हुई खाल तेल में मिलकर खाल पर चिपकी रह जाती है और पसीने के साथ निकलनेवाले नमक की तह जम जाती है। इनके जमने से पसीना निकालनेवाले सूराख़ बन्द हो जाते हैं और अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं। इसलिए यदि शरीर विधिपूर्वक साफ न किया जाय तो रक्त से त्वचा द्वारा निकलनेवाले मलिन पदार्थों का निकलना बन्द हो जाता है तथा विषैले पदार्थ एकत्र होकर हमें रोगी बना देते हैं। चर्म की गन्दगी से अन्य भागों में भी रोग उत्पन्न हो जाते हैं। त्वचा की बीमारियाँ अनेक हैं। उनमें से कुछ तो बड़ी ही कष्टप्रद होती हैं, जैसे--खाज, कोढ़, दाद आदि।

त्वचा को स्वच्छ और ठीक रखने का सबसे सहज उपाय स्नान करना है। सभ्यता के इतिहास के मनन से विदित होता है कि प्राचीन काल से ही खाल को धोने अथवा नहाने की आवश्यकता समझी जाने लगी थी। हिन्दुओं में प्रातःकाल नदी या कुएँ के जल से स्नान बड़ा जरूरी समझा जाता था। बिना नहाये खाना खाना बहुत बुरा समझते थे और अब भी ऐसा ही है। रूमी और यूनानी अपने शहरों में जनता के नहाने के लिए बड़े ठाठ के गुसलख़ाने और हमाम बनाया करते थे। स्नान के विषय में यह न भूलना चाहिए कि असमय और कभी ठंडे तथा कभी गर्म पानी से नहाने से लाभ के बजाय हानि ही होती है। नहाने से त्वचा पर ही नहीं बल्कि रक्त-संचालन, भीतरी अंग तथा नाड़ी-संस्थान पर भी प्रभाव पड़ता है।

ठंडे और गर्म पानी से नहाना

यह अवश्य है कि गर्म पानी और साबुन के उपयोग से शरीर की सफाई अच्छी हो जाती है, परन्तु ठंडे पानी में नहाने से बदन में अधिक प्रफुल्लता आ जाती है। खाल पर ठंडा पानी लगने से ख़ून की महीन महीन नलिकाएँ सिकुड़ जाती हैं। ख़ून शरीर के भीतरी अंगों में बढ़

जाता है तथा हृदय को शक्ति मिलती है। ठंडे पानी में नहाने की आदत डालने से सदा-गर्मी का झेलने की शक्ति बढ़ जाती है। इसी वजह से ऐसे लोगों को सदा-जुक़ाम नहीं होता। ठंडे पानी में देर तक नहाना चाहिए और नहाकर शरीर फ़ौरन ही तौलिए से खूब रगड़कर पोंछना चाहिए। यदि हो सके तो थोड़ी-सी कसरत कर लेना चाहिए या तेजी से चल लेना चाहिए, ताकि फिर रक्त ऊपर की ओर दौड़ आए। यदि आपको ऐसा करने के बाद प्रसन्नता और ताजगी न मालूम हो तो जान लीजिए कि आपके लिए ज्यादा ठंडे पानी में नहाना उचित नहीं है। दौड़-धूप, कसरत आदि के पश्चात् थके या गर्म होने पर, अथवा पसीने में तर रहने पर, ठंडे जल से तत्काल कदापि स्नान न करना चाहिए। खाना खाने के पश्चात् भी तत्काल नहाना न चाहिए।

शरीर को गर्म पानी से धोने से ऊपरी रक्त-नलिकाएं फूल जाती हैं और स्वेद-ग्रंथियाँ उत्तेजित हो जाती हैं, हृदय तेजी से धड़कने लगता है, शरीर का ताप बढ़ जाता है और सब तन्तु अपना काम फुर्ती से करने लगते हैं। ऐसे स्नान से पहले पहल तो शरीर में फुर्ती आ जाती है, लेकिन यदि देर तक नहाया जाय तो सुस्ती मालूम होने लगती है। गर्म पानी से नहाने के बाद काफ़ी देर तक खाल में खून अधिक इकट्ठा रहता है, जिनसे शरीर की गर्मी अनुचित मात्रा में बाहर निकल जाती है। इसीलिए देर तक या बार-बार गर्म पानी से नहाना कमजोरी पैदा करता है। यदि गर्म स्नान के उपरान्त कुनकुने या ठंडे पानी के फ़ौवारे से जरा-सा नहा लें या बदन को अँगौछे डालें तो यह बात नहीं होने पाती। हृदय-रोगवालों को गर्म पानी में नहाने से बचना चाहिए।

बालों की देख-भाल

एक पुरानी कहावत है कि जहाँ बाल हैं वहाँ मैल भी रहता है। यह बिल्कुल ठीक है, इसलिए जहाँ तक हो सके बालों को बहुत साफ़ रखना चाहिए, जिससे बाल के भीतरी भाग की थैली का मुँह बन्द न हो जाय और उस चिकनई का निकलना न रुक जाय जो बालों को नर्म रखती है। चिकनई निकलना बन्द हो जाने से बालों की जड़ पर दबाव पड़ता है और बाल गिरने लगते हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि बालों को भी खाल की भाँति जल्दी-जल्दी धोना चाहिए। साधारणतया बच्चे का सिर सप्ताह में एक या दो बार तथा बड़ों का सिर १०वें-१५वें दिन धुलना चाहिए। इससे सिर में रूसी इकट्ठी नहीं होने पाती। साथ-साथ एक बार रोज सिर की मालिश करना जरूरी है, जिससे कि बाल की जड़ों में रक्त-संचार होने और तेल फैलने में सहायता मिले। मालिश सिर्फ़ उँगलियों के पोरों से ही करना चाहिए और पहले कान के पास से शुरू करके हलका दबाव देते हुए सारे सिर पर उसे फैला देना चाहिए। जब सिर की खाल खुश्क हो जाय या बाल भुरभुरे हो गये हों तो जैतून और अंडी के तेलों को बराबर-बराबर मिलाकर कुनकुना करके लगाने से यह बात जाती रहती है। महीने में एक बार गर्म तेल की मालिश करने से बालों को बहुत फ़ायदा होता है। सिर धोने के लिए सुहागा, रीठा या नर्म साबुन का इस्तेमाल करना चाहिए। किसी के सिर में यदि गंजापन या अन्य कोई रोग हो तो उसका कंघा या ब्रश दूसरे को न इस्तेमाल करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से दूसरों को भी यही बीमारी हो जाती है। कंघा और ब्रश करने से भी बालों को वही असर पहुँचता है जो उँगलियों की मालिश से होता है। इनसे यह लाभ होता है कि बालों की गर्द-धूल भी साफ़ हो जाती है। सोडा से धोने से बाल कड़े पड़ जाते हैं, इसलिए धोने के बाद तुरन्त ही तेल लगा लेना चाहिए। साबुन आदि से धोने के बाद भी थोड़ा-सा तेल लगा देने से बालों का रूखापन चला जाता है। मामूली और स्वस्थ बालों के लिए किसी उबटन या मसाले की आवश्यकता न होना चाहिए। वे तो प्राकृतिक तेल से ही नर्म और चमकदार बने रह सकते हैं। किसी किसी बीमारी का लक्षण ही बालों का गिरना है। ऐसी दशा में उस रोग का इलाज करना चाहिए, बालों का नहीं।

नाखूनों की रक्षा

नाखून और उनके आस-पास की खाल की सफ़ाई भी जरूरी है। नाखूनों में हैजे और अन्य रोगों के कीटाणु रह सकते हैं। हाथों को बिना अच्छी तरह धोये खाना खाने से या मुँह में उँगली डालने से ये कीड़े आमाशय में प्रवेश करके रोग उत्पन्न कर सकते हैं। नख उँगलियों के छोरों की रक्षा करते हैं और सूक्ष्म वस्तुओं को उठाने में सहायता देते हैं। उन्हें इतना काटना चाहिए कि उँगलियों से बाहर न निकलें। नखों को काटकर ठीक रखने पर भी मैल और धूल उनमें जमा हो जाती है, इसलिए किसी नर्म चीज़ से निकाल देना चाहिए। स्त्रियों के लिए कैंची से नाखून काटना अच्छा नहीं है, क्योंकि इस तरह वे मोटे पड़ जाते हैं। यदि खुश्की से नाखून फटने लगें तो उन पर कभी-कभी तेल लगाते रहना चाहिए।

आर्थिक संगठन

आर्थिक जीवन का प्रारम्भकाल उस अवस्था को कहते हैं जब मनुष्य ने सहयोग का पाठ नहीं पढ़ा था। उन दिनों प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन की आवश्यक सामग्री स्वयं एकत्रित करता था। पिछले लेखों में यह बतलाया जा चुका है कि स्वावलम्बन् की अवस्था अधिक समय तक क्यों नहीं चल सकी। यह भी बतलाया जा चुका है कि सहयोगिक जीवन के प्रारम्भकाल में किस तरह भिन्न-भिन्न परिवारों ने एक-एक कार्य अपने लिए चुन लिया और विशेष परिवार ने विशेष कार्य में निपुणता प्राप्त कर ली। इस प्रकार अनेक परिवार ग्राम की आवश्यकता की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बनाते और हाट में बेचकर जीवन व्यतीत करते थे। इस प्रकार के सहयोगिक जीवन का दायरा बहुत सीमित था, क्योंकि एक अथवा कई परिवार अपने परिवार के मनुष्यों के बल पर केवल ग्राम भर के लिए पदार्थ उत्पादन कर सकते थे। क्रमशः जब मानव जीवन में सभ्यता का प्रवेश हुआ और सांसारिक भोग की मात्रा बढ़ी तब नित्य नये नये पदार्थों और सेवाओं की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस प्रकार उद्योगों की वृद्धि हुई। अब कई ग्रामों ने मिलकर उत्पादन का कार्य सँभाला, ताकि नाना प्रकार के पदार्थ बन सकें। इस कार्य में एक विशेषता यह पैदा हुई कि पदार्थों की संख्या पहले-जैसी अल्प न रखकर अब अधिक बढ़ानी पड़ी। ग्राम्य स्वावलम्बन् की अवस्था में उत्पादन करनेवाला कलाकार स्वयं ही उत्पादन तथा बिक्री के सम्पूर्ण कार्य को करता था। वह ही जंगल से कच्चा माल लाता, वह ही औजार बनाता, वह ही पदार्थ निर्माण का कार्य करता और फिर उसकी बिक्री करने भी वह ही जाता। इसके साथ-साथ जहाँ-कहीं बने हुए औजार मोल लेने होते अथवा कच्चे माल का पैसा देना पड़ता वहाँ उसे ही धन का प्रबन्ध भी करना पड़ता। यदि कच्चा माल लाने में, पदार्थ बनाने में, अथवा और किसी कार्य में वह किसी अन्य पुरुष से सहायता लेता तो उसका वेतन इत्यादि भी उसी को देना पड़ता था। सारांश यह कि आजकल के मजदूर, पूँजीपति, महाजन तथा विक्रेता सबका कार्य वह स्वयं ही करता था। इस उत्पादन-संस्था को 'एकाकी पूँजीपति संगठन' कहते हैं। स्पष्ट-सी बात है कि एक परिवार इतने कार्य उसी समय तक कर सकता था जब तक कि केवल थोड़ी मात्रा में बनाना रहा हो। उत्पादन की मात्रा बढ़ने से अधिक सहयोग की आवश्यकता हुई। अब सहयोग के दो विशेष रूप हुए। एक तो यह कि उत्पादन तथा बिक्री के उपरोक्त भिन्न-भिन्न विशेष कार्य अलग-अलग परिवारों में बँट गये, दूसरे, प्रत्येक कार्य में अनेक मनुष्यों ने एक-एक भाग अपना लिया और वे उसमें संलग्न हो गये। पहले प्रकार के सहयोगिक विभाजन के उदाहरण के लिए हम यों कह सकते हैं कि एक परिवार ने कच्चा माल एकत्रित करने का कार्य किया, दूसरे ने निर्माण-कार्य में सहायता की, तीसरे ने कच्चा माल खेत से कारीगर के निवासस्थान और निर्माण के बाद हाट तक पहुँचाने का कार्य किया, चौथे ने धन से सहायता की, पाँचवें ने निर्माण के औजार बनाने का भार ग्रहण किया, छठे ने नाना प्रकार के कार्य करनेवालों को सामूहिक रूप में कार्य में लगाया, और सातवें ने बने हुए पदार्थों की बिक्री की। बिक्री से प्राप्त धन में सब परिवारों ने मेहनत के अनुसार अपना-अपना भाग पाया। इस प्रकार के संगठन को 'साझेदारी का संगठन' कहते हैं। दूसरा सहयोग यह हुआ कि एक पदार्थ के बनाने में एक-एक कारीगर ने उस वस्तु का केवल एक-एक भाग तैयार किया और फिर उन भिन्न भागों को मिलाने से वह पदार्थ बना, जो हाट में बिक सकता था। उदाहरण के लिए कपड़े का काम ले लीजिए। जब रुई आई तो पहले धुनकिये ने उसे साफ़ किया। धुनकी हुई रुई कत्तिनों के पास भेजी गई। उन्होंने उसे सूत के रूप में परिवर्तित किया। फिर यह कता हुआ सूत जुलाहों के पास गया।

कहीं कहीं लकड़ी के रूप में खेत पर फैलाया गया। ताना-बाना तैयार हुआ। वे बनाई गईं। मोड़ी भी गई और बुनाई में कपड़ा बना। फिर कपड़े की छपाई हुई। कहीं-कहीं रँगाई भी की गई। इसके बाद कपड़ा हाट में गया और पहनने के वस्त्र बनाने के काम में आया। इसी प्रकार हर कार्य को भागों में बाँटा गया और बहुत-से मनुष्यों के सहयोग से एक पदार्थ का निर्माण हुआ। उसकी पहली अवस्था में कारीगर अथवा मजदूर सबसे आवश्यक था। उसके बिना काम चल ही नहीं सकता था। इसमें एक भारी रुकावट यह थी कि पदार्थ की संख्या मनुष्य के हाथ द्वारा काम करने की शक्ति पर सीमित थी, और आवश्यकता पड़ने पर उत्पादन की मात्रा अधिक नहीं बढ़ सकती थी। इस कठिनाई को मिटाने के लिए मनुष्य ने औजारों से काम लिया जिनका अन्तिम स्वरूप आजकल की मशीनें हैं। इसमें सन्देह नहीं कि औजार तथा मशीन की सहायता से कार्यकुशलता तथा उत्पादन-शक्ति बहुत बढ़ गई। ठीक एक-जैसी हजारों चीजें कुछ ही घंटों में बनने लगीं। मनुष्य का परिश्रम भी बहुत घट गया। आजकल तो मशीनें इतनी अद्भुत प्रकार की बनने लगी हैं कि वे स्वयं ही उत्पादन का पूरा काम करती हैं, कारीगर केवल कच्चा माल मशीन में भर देता है और बना हुआ माल उठाकर दूकान को ले जाता है। दो बातें यह हुईं कि भारी परिश्रम का काम (जैसे लोहे की भारी चीजों का निर्माण) और अत्यन्त निपुणता के काम (जैसे घड़ी इत्यादि को बनाना) बड़ी सुगमता और कुशलता से होने लगे। इस तरह समाज की औद्योगिक उन्नति हुई। नये-नये पदार्थ बनने लगे। इसका एक प्रभाव यह हुआ कि कारीगर (मजदूर) का महत्त्व उत्पादन में घट गया। वह केवल मशीन चलानेवाला रह गया। कार्य-निपुणता का मूल्य भी घट गया और बेकारी बढ़ने लगी। मशीन का महत्त्व बढ़ने से सञ्चालन का कार्य कारीगर के हाथ से निकलकर पूँजीपति के हाथ में चला गया, जो मशीनें मोल लेकर कारखाना बनाता था। मजदूर स्वयं उत्पादक होने के बदले अब वेतन पर काम करने लगे। उनके भाग का भारी अंश उस धन के सूद के रूप में जाने लगा, जिसके द्वारा बड़ी-बड़ी मशीनें खरीदी गई थीं क्योंकि अब उत्पादन में दो चीजें सहयोग देती थीं—मजदूर और मशीन। मजदूर का भाग वेतन कह-लाता और मशीन का भाग दो रूप में रक्खा गया—एक तो मशीन के मूल्य का सूद (interest) और दूसरा मशीन की टूट-फूट और घिसने का खर्च (depreciation)। इसके साथ-साथ एक तीसरा भाग उन व्यक्तियों का समझा गया जो पदार्थ के उत्पादन के समय से बिक्री के समय तक के लिए अपना धन देते थे। उत्पादन के प्रारम्भ होने के पूर्व कच्चा माल तथा मशीनें ख़रीदने के लिए धन आवश्यक है। फिर कारख़ाने के प्रतिदिन के ख़र्च के लिए भी धन की आवश्यकता होती है, जैसे मजदूर को नियमित समय पर वेतन देना, सरकारी कर देना, बिजली का मूल्य चुकाना, कच्चा माल लाने का भाड़ा देना इत्यादि। इसलिए अब पूँजीपति की आवश्यकता हुई जो अपना धन लगा सके। कारख़ाने द्वारा उत्पादन में स्व-भावतः पूँजीपति की महिमा बढ़ गई, क्योंकि अब कारीगर की जगह पूँजीपति ही उद्योग-सञ्चालन का कार्य करता था। इन पूँजीपतियों की दो शाखाएँ हुईं। एक तो वे जो केवल धन देकर सूद लेते हैं, इन्हें महाजन (debenture-holder) कहते हैं। इनकी तुलना साधारण बैंक से की जा सकती है। दूसरा दल उन पूँजीपतियों का है जो अपना रुपया उद्योग में लगाते हैं और सूद न लेकर मुनाफ़ा लेते हैं, जो प्रायः सूद से ज़्यादा होता है। इनके मुनाफ़ा लेने का कारण यह है कि ये उद्योग के जोखिम को भी सहन करते हैं। हो सकता है कि कारख़ाने को हानि हो। ऐसी अवस्था में हानि का भार इन्हीं पूँजीपतियों पर पड़ता है। इन्हें हिस्सेदार (shareholder) कहते हैं। जब तक उद्योग-क्षेत्र सीमित था अथवा उत्पादन-कार्य को एक अथवा कई परिवार करते थे तब तक थोड़े-से ही धन की आवश्यकता होती थी और उतना धन एक अथवा कई परिवारों की पूँजी से पूरा हो सकता था। परन्तु उद्योग का विस्तार बढ़ने से एक-एक कारख़ाने के लिए अगाध धन-राशि की आवश्यकता पड़ने लगी। इतना धन एक व्यक्ति, परिवार अथवा कुछ व्यक्ति एकत्रित करने में असमर्थ थे। इसलिए जनसाधारण से थोड़ा-थोड़ा धन लेने की युक्ति सोची गई। इस युक्ति में कारख़ाना खोलने के पहले समा-चार-पत्रों द्वारा जनसाधारण को सूचना दी जाती है और छोटे-छोटे भागों (shares) में उन्हें रुपया लगाने के लिए निमन्त्रित किया जाता है। इसे 'संयुक्त पूँजी का सिद्धान्त' (Joint Stock Principle) कहते हैं। बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ और कारख़ाने आजकल इसी युक्ति के आधार पर चलते हैं। अब उद्योग केवल पूँजीपतियों के हाथ में आ गया। इतने बड़े धन का प्रबन्ध करना, और कारख़ाने के सञ्चालन का निरी-क्षण का कार्य अब बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया और कुछ

मनुष्यों ने केवल संचालन तथा निरीक्षण के कार्य में निपुणता प्राप्त करने की चेष्टा की। कहीं-कहीं ये धन का भी प्रबन्ध करने लगे। इन्हें 'संचालक' (Managing Agents) कहते हैं। इस प्रकार उद्योग-संचालन में अब चार मुख्य कर्त्तव्य हुए—कच्चा माल लाना, निर्माण-कार्य (मज़दूर द्वारा), धन तथा मशीनों का प्रबन्ध (पूँजीपति द्वारा) और सचालन-कार्य। जैसे-जैसे उद्योग का विस्तार बढ़ता गया क्रम से नये कर्त्तव्य महत्त्व पाते गये। यहाँ तक कि आज सचालक और उसके बाद पूँजीपति उद्योग के विशेष अग हैं।

पहले कह चुके हैं कि पदार्थ की माँग बढ़ने से उद्योग का विस्तार बढ़ा और अधिक मात्रा में पदार्थ पैदा किये गये। इस विस्तार का एक कारण "मशीन" भी हैं। मशीन के मूल्य का सूद तभी निकल सकता है जब पदार्थ बहुत बड़े परिमाण में बनाए जायँ। जनसाधारण तो पदार्थ का मूल्य अपनी मोल लेने की शक्ति तथा आवश्यकता के अनुसार ही देंगे। इसलिए मशीन के रूप में लगे धन का सूद निकालने के लिए पदार्थ का मूल्य तो बढ़ाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि इसमें पदार्थ न बिकने का भारी भय है। अतएव दूसरा उपाय यही है कि उत्पादन इतना अधिक बढ़ा दिया जाय कि उस पर सूद का भार कम से कम हो जाय और पदार्थ का मूल्य न बढे। उदाहरण के लिए यदि मशीन का मूल्य १० लाख रुपया है तो मासिक सूद ३) प्रतिवर्ष प्रतिशत की दर से २५००) हुआ। यदि २५०० पदार्थ बनाए जायँ तो एक रुपया सूद जोड़कर पदार्थ का मूल्य १) बढ़ जायगा। इसको घटाने के लिए २५०० के बजाय ४०,००० पदार्थ बनाने की चेष्टा की जाती है जिसमें सूद का भार प्रति पदार्थ केवल ~) रह जाय और पदार्थ की बिक्री में कोई कमी न हो। एक बात और भी है। मशीन द्वारा उत्पादन की विशेषता यह है कि जितना अधिक उत्पादन होगा उतना ही पदार्थ का मूल्य कम होता जायगा। अधिक पदार्थ बनाने पर यह आवश्यकता होती है कि बिक्री बढाई जाय। उसके लिए पदार्थ के मूल्य को घटाना पड़ता है जिसमे कम पैसेवाले भी उक्त पदार्थ को मोल ले सकें। मूल्य घटाने के लिए मशीन से अधिकाधिक काम लेना पड़ता है, जिससे मजदूर की बेकारी दिन-प्रति दिन बढ़ती जाती है। यह कुचक्र इस प्रकार है—अधिक धन पैदा करने के लिए मशीन मँगाई, फलस्वरूप मज़दूर बेकार हुए, अर्थात समाज की पदार्थ मोल लेने की शक्ति मजदूरी की मात्रा भर घट गई, इसके फलस्वरूप पदार्थ सस्ते हुए, परन्तु घटाए मूल्य पर भी वे बिक नहीं सकते; उन्हे और अधिक सस्ता करने के लिए और मशीन लगाई, फलतः बेकारी और बढ़ी; जब एक देश मे पदार्थ नहीं बिक सके तब उनके लिए दूसरे देश में हाट पैदा करने की चिन्ता हुई, साथ-ही-साथ अधिक पदार्थ बनाने के लिए अधिक मात्रा मे कच्चे माल की आवश्यकता हुई, इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग की योजनाएँ बनीं, अब एक देश से कच्चा माल लिया, अपने देश मे मशीन द्वारा उससे कम मूल्य पर पदार्थ बनाए, और ससार के देशो में उन्हें बेचने की चेष्टा की। इस प्रकार के औद्योगिक सगठन को पूँजीवाद कहते हैं। इसमें केवल कुछ पूँजीपति धनी होते जाते हैं और मजदूरों की बड़ी सख्या बेकार होती जाती है, जिससे जनसाधारण में निर्धनता बढती है। इस तरह एक देश के रहनेवाले दो भागों में विभाजित हो जाते हैं—पूँजीपति और श्रमजीवी दल।

यदि इस प्रकार का पूँजीवादी आर्थिक सगठन ससार के केवल एक देश में हुआ और बाक़ी सब देश उद्योग-उन्नति की नीची श्रेणी ही में रहे तब तो विशेष आपत्ति नहीं आती। अठारहवीं और उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक, जब इङ्गलैंड पूँजीवादी सगठन द्वारा उद्योग में सलग्न था और दूसरे देश कच्चा माल बेचकर इङ्गलैंड के कारख़ानों का बना हुआ माल मोल लेते थे, यही दशा रही। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के आरभ से ससार के कई देश इसी ढग पर औद्योगिक उत्पादन करने लगे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि कच्चा माल पैदा करनेवाले देश तथा कारख़ानों का बनाया हुआ सामान मोल लेनेवाले देशो को अपने वश मे करने की चेष्टा प्रत्येक पूँजीपति देश कर रहा है। कहीं-कहीं मित्रता द्वारा वश में किया जाता है, कहीं समझौते के बल पर, और ये दो उपाय न चलने पर शस्त्रबल का उपाय भी निर्भय होकर किया जाता है। इसको कहते हैं 'पूँजीवादी साम्राज्यवाद'। इस शताब्दी के महायुद्धों के कारण की तह में यही आर्थिक सगठन और कच्चा माल पैदा करनेवाले उपनिवेश हैं, जहाँ शासक देश का बना हुआ माल बिकता है। इस प्रकार मनुष्य ने आर्थिक सगठन को एक व्यक्ति से प्रारम्भ करके ससारव्यापी पूँजीपति सगठन तक पहुँचाया है। आर्थिक सगठन की यह चरम सीमा है। परन्तु स्वदोष के कारण इस प्रकार के सगठन मे आन्तरिक क्षीणता के चिह्न दिखाई दे रहे हैं, जो भीतर-ही-भीतर इसके खोखला होते जाने और एक नवीन रूप ग्रहण करने की सूचना दे रहे हैं।

बार-बार अपना निवासस्थान बदलना पड़ा है। इसी प्रकार प्रतिकूल प्राकृतिक शक्ति तथा पराक्रमशाली शत्रु से आत्म-रक्षा करने के निमित्त अनुकूल आवेष्टन में पहुँचकर सहस्रों वर्षों के पश्चात् मनुष्य रूपान्तरित होने लगा। कोई-कोई जाति या गोष्ठी असह्य ताप या शीत से युक्त प्रतिकूल आवेष्टन में ही अचल होकर रह गयी। इस प्रकार चीन में पीतवर्ण मंगोलियन जाति, हिमालय के दक्षिण में लाल-भूरी जाति, अफ्रीका के सहारा मरुप्रदेश में कृष्णवर्ण जाति, योरोप तथा एशिया के भ्रमण-मार्गों के चौराहे पर गौरवर्ण जाति और दक्षिणी प्रशान्त महासागर में आस्ट्रेलायड जाति आविर्भूत हुई।

मनुष्य के इन विभिन्न भागों की जातियों के जन्मस्थान भी भिन्न थे। भिन्न-भिन्न आवेष्टनों के फलस्वरूप उनका कद, उनके शरीर का वर्ण, उनके मस्तक तथा नाक की बनावट, उनके बाल तथा रोम—जलवायु, भोजन तथा श्रम की विभिन्नता के कारण—भिन्न भिन्न हो गए। सम्भवत ऋतुविपर्यय और भिन्न खाद्य सामग्री मनुष्यों के शरीर में स्थित विविध गण्डों (Glands) के स्राव में असमता और परिवर्तन उत्पन्न कर देती है। उसीके फलस्वरूप दैहिक एवं मानसिक प्रकृति में वैचित्र्य दिखाई देता है। अत्यधिक फूली हुई पिट्यूटरी गंड के स्राव के कारण मनुष्य के जबड़े, नाक तथा भौं बृहदाकार हो जाते हैं। यही निएण्डरथाल मनुष्यों के लक्षण थे। योरोपीय जातियों के लोगों की नाक तथा जबड़े अस्वाभाविक रूप से बड़े होते हैं। यह उनमें पिटुइटेरी के बृहत् होने की सूचना है। एड्रिनाल गंड के प्रभाव से शरीर का रंग बदल जाता है। आदिम मनुष्य के कृष्णवर्ण का सम्बन्ध एड्रिनाल गंड-स्राव से ही था। योरोपीय तथा आस्ट्रेलियन जाति में मुँह तथा शरीर पर जो रोओं की अधिकता दृष्टिगोचर होती है, उसमें एड्रिनाल का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। दूसरी तरफ़ थाइराइड गंड की क्षीणता मनुष्य की वृद्धि को रोकती, मुख तथा नाक को चपटा करती तथा अन्य भाँति-भाँति की मंगोलियन विशिष्टताएँ प्रदान करती है। सभी पूर्वएशियावासी मनुष्यों में थाइराइड के अविकसित होने का प्रभाव लक्षित होता है। इसके सिवा यह बात भी विज्ञानसम्मत है कि शीत तथा उष्णताप्रधान देशों में अथवा ऊँचे तथा नीचे देशों में चमड़ी का वर्ण एवं नासिकागठन भिन्न प्रकार के होते हैं। मनुष्य का नासारन्ध्र बड़ा होगा या छोटा, यह बात पृथिवी के विभिन्न भागों की उष्णता अथवा उसके जलीय भागों की कमी या प्रचुरता के साथ सम्बन्धित है। केफ़र जाति के लोगों के चौड़े नथुनों तथा गौरांग नार्डिक लोगों के सुन्दर, गम्भीरताहीन नासारन्ध्र में जो भिन्नता है वह इस कथन की साक्षी है कि आवेष्टनों के साथ दैहिक विशिष्टता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ठंढी हवा नथुनों को पार करके फुफ्फुस के प्रवेशद्वार पर पहुँचते-पहुँचते कुछ गरम हो जाती है। यह जीव के लिए कल्याणकारी होता है। यह कहा जा सकता है कि उत्तरी योरोपवासियों को इससे अपने शीतप्रधान आवेष्टन से सामञ्जस्य स्थापित करने में बहुत सहायता मिली है। इसी प्रकार उष्ण भूभागों में, जहाँ सूर्य की किरणें प्रखर होती हैं, अधिकांश जातियों की चमड़ी कृष्णवर्ण होती है। इसके विपरीत शीत देशवासियों की त्वचा वर्णहीन होती है। उधर अफ्रीका एवं एशियावासियों की रंगीन चमड़ी बहुत कुछ सूर्य की प्रखर किरणों को उनके शरीर में गहरे पैठने से रोकती है। जीवजगत् में हम देखते हैं कि मरुप्रदेश में भाँति-भाँति के जीव कहीं रंग और कहीं स्थूल रोएँदार खाल धारण करके प्रकृति के विरुद्ध संग्राम कर रहे हैं। इस प्रकार के परिवर्तन भी प्रागैतिहासिक मनुष्य के सामञ्जस्यकरण तथा प्राकृतिक निर्वाचन में कुछ कम सहायक नहीं हुए। उष्णताप्रधान भागों की गरमी तथा प्रखर प्रकाश ने जिस प्रकार नीग्रो जाति के गहरे बादामी रंग से युक्त, बहुत अधिक पसीना निकालनेवाली, फूली हुई चमड़ी का गठन किया है, उसी प्रकार पूर्वएशिया की दीर्घकालीन दारुण अनार्द्र शीत ने मंगोलजाति की शुष्क एवं कठोर चमड़ी की सृष्टि की है। इसी प्रकार जातियों की इन्द्रियानुभूति, शान्त अथवा उत्तेजनशील स्वभाव तथा सम्भवत मानसिक एवं शारीरिक गठन सम्बन्धी अन्य अनेक प्रभेद भी उत्पन्न होते हैं। मनुष्य के यौन जीवन तथा दैहिक एवं मानसिक परिणति पर जलवायु, विशेषत उष्णता, का प्रभाव देखा जाता है। जहाँ पर गर्मी ६० से लेकर ६४ डिग्री (फारनाइट) तक होती है और बीच-बीच में जहाँ पर स्वास्थ्यप्रद ठण्डक पड़ती है, वहाँ के मनुष्य ही मानसिक शक्ति तथा तेज में सबकी अपेक्षा अधिक सम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार भूमण्डल के भिन्न भिन्न भागों में मनुष्य की दैहिक एवं मानसिक प्रकृति ने परस्पर मिलकर प्रागैतिहासिक मनुष्य की भिन्न-भिन्न जातियों की पृथक्-पृथक् अभिव्यक्ति की है।

साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि आदिम मनुष्य का आवेष्टन समशीतोष्ण आर्द्र जलवायु से युक्त था। क्रमश पृथ्वी के बहुत ठंढा हो जाने के कारण भोजन तथा गण्ड-स्राव में परिवर्तन होने के साथ ही साथ मध्य-एशिया में

आदिम मनुष्य का शरीर और चेहरा नीग्रो के बजाय मेडीटरेनियन जाति में परिवर्तित हो गया। और फिर उस प्रदेश में जब दीर्घकालीन शुष्कता आ विराजी तो दूसरी गण्ड के स्राव के फलस्वरूप मनुष्य का मुख चपटा, बाल सीधे और शरीर बलिष्ठ एवं ठिगना हो गया। अलपाइन और मंगोलियन जाति के आकार की ओर यह अवस्थान्तर घटित हुआ।

बहुत सम्भव है कि नीग्रो तथा आस्ट्रेलियन जाति के आदिम पुरखों को छोड़कर बाकी सभी क्रमपरिवर्त्तनशील प्रागैतिहासिक मनुष्यों का दैहिक व मानसिक परिवर्त्तन विशाल तुषारराशि से आच्छादित एशिया खण्ड में ही हुआ हो। ऊपर कहे हुए परिवर्त्तन के साथ ही साथ मनुष्यों का माथा लम्बा तथा मस्तिष्क के सामनेवाला भाग कुछ बड़ा होने लगा। दूसरी ओर वे सभी आदिम जातियाँ जो प्राकृतिक विपर्यय के समय दक्षिण या पूर्व के गर्म तथा दलदली जंगलों की ओर चली गईं थी, दारुण शीत अथवा चरागाहों में व्याप्त भोजन-संकट से तो अवश्य ही सुरक्षित रहीं, किन्तु आखिरकार उत्तर की ओर जानेवालों की अपेक्षा संसार के इतिहास में वही कुछ पीछे पड़ गईं। उनके मस्तिष्क की आकारवृद्धि या विकास नहीं हो पाया। ठिगना कद तथा छोटा और कम गोल मस्तिष्क रखनेवाले उन्हीं के वंशधर आज अफ्रीका तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में नीग्रो और आस्ट्रेलियन नामों से परिचित हैं। उनके शरीर पर टेढे तथा बिटरे रोम होते हैं। इससे यह पता चलता है कि इन आदिम मनुष्यों का जन्मस्थान मध्य-एशिया न होकर दक्षिण की गरम आबोहवा में था जहाँ कि जल्दी-जल्दी उनके रक्त को ठण्ढा करने की आवश्यकता पड़ती थी।
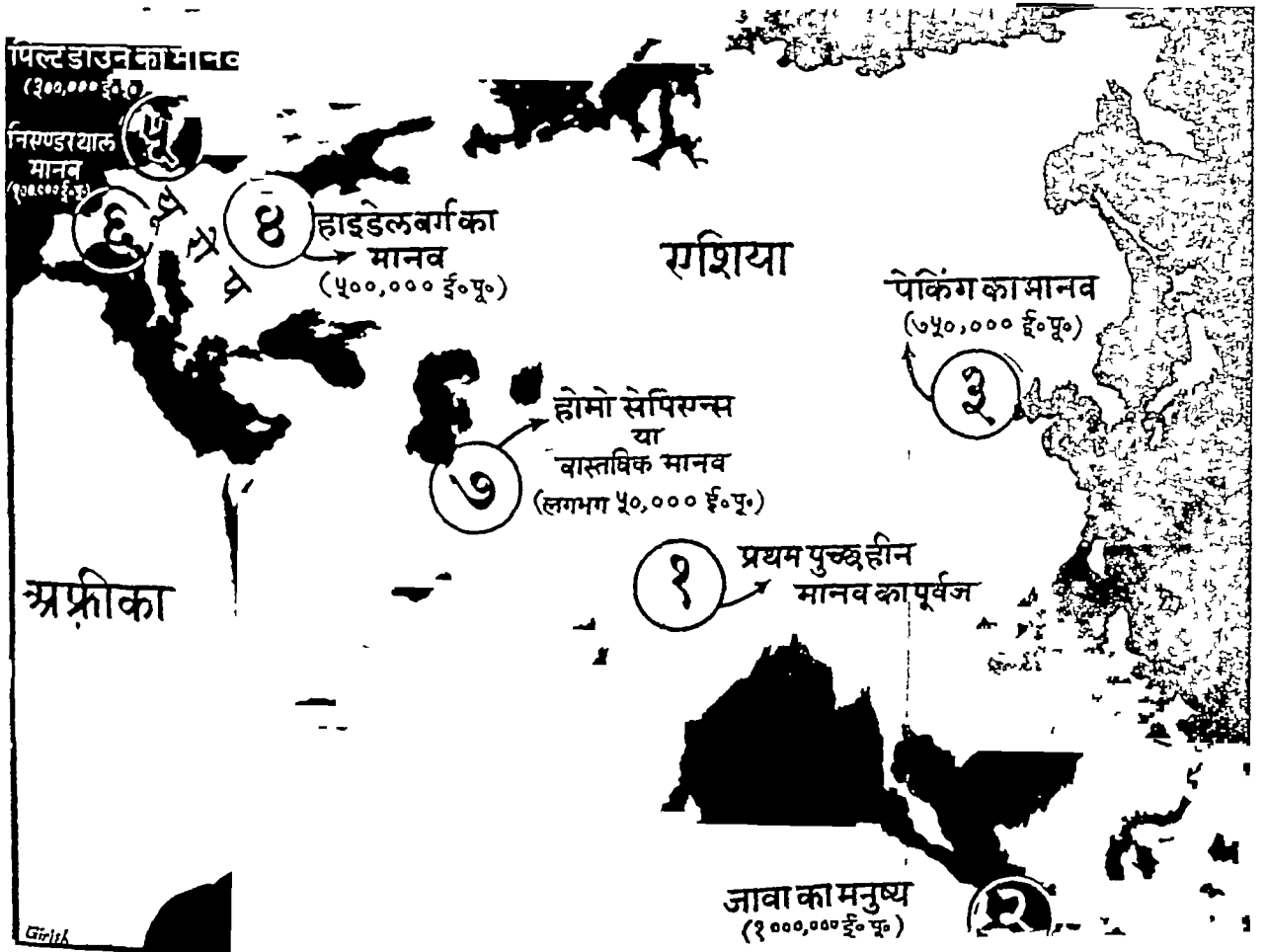
मानव जाति का जन्म और विकास

पुरातत्ववेत्ताओं और जीव-वैज्ञानिकों ने आदिम मनुष्य के संबंध में जो जानकारी प्राप्त की है उनका आधार आदि मानव के वे शिलीभूत अवशेष हैं जो स्थान-स्थान पर पाए गए हैं। ऊपर के नक्शे में उनमें से मुख्य-मुख्य का तिथिक्रम से निर्देश किया गया है। (अमराम शीनफेल्ड की पुस्तक 'यू एंड हेरीडिटी' के आधार पर यह नक्शा बनाया गया है, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं)।

नीचे आदि काल की विभिन्न मानव जातियों के आदिम निवास-स्थान तथा उनके विशिष्ट गुण, सम्बद्ध-प्रदेश और पर्यटन-पथ का निर्देश किया जाता है :—

जाति	आदिम निवासस्थान	पर्यटन-पथ
१ नार्डिक	एशिया के ऊपरी पर्वत और मास्को की मध्य-भूमि	दक्षिण की ओर ग्रीस, सीरिया एवं पश्चिम माइनर, पूर्व की ओर फारस एवं भारतवर्ष, पश्चिम की ओर जर्मनी, हालैण्ड, स्कैन्डानेविया एवं इंगलैण्ड ।
२ अलपाइन	कैस्पियन सागर व अल्ताई पर्वत की मध्य-भूमि	दक्षिण-पश्चिम की ओर टर्की, मेसोपटामिया, सीरिया एवं मिस्र, पश्चिम की ओर रूस की उपत्यका, पूर्व की ओर भारतवर्ष तथा उत्तर-पूर्व एशिया ।
३ मेडीटरेनियन	रूमसागर का किनारा	पूर्व की ओर मेसापटामिया तथा भारत, पश्चिम की ओर ब्रिटेन तथा आयरलैण्ड ।
४ मंगोलियन	चीन की ह्वांगहो तथा यांगटिसी-क्यांग नदियों की मध्य-भूमि	उत्तर की ओर मंगोलिया तथा साइबेरिया, पश्चिम की ओर तिब्बत तथा टर्की, दक्षिण की ओर वृहत्तर भारत ।
५ नीग्रो	अफ्रीका का उष्ण प्रदेश	दक्षिण की ओर पूर्व तथा दक्षिणी अफ्रीका, पूर्व की ओर अरब, भारत तथा वृहत्तर भारत के भीतर से होकर ऑस्ट्रेलिया तक ।
६ आस्ट्रेलियन	भारतवर्ष	पूर्व की ओर लंका, मलय होते हुए ऑस्ट्रेलिया ।

भिन्न भिन्न भूभागों में बहुत समय तक रहने से जातियों में केवल रूप विभिन्नता ही नहीं उत्पन्न हुई प्रत्युत् अन्तर्विवाह, भाषा, एवं विधिनिषेधों सम्बन्धी विशिष्टता तथा जातीय संकीर्णता आदि बातें भी पैदा हो गईं। बाहरी रूप तथा अन्तस् इन दोनों के योग से ही जातीय ऐक्य का संघटन होता है। आजकल जिसे हम देशप्रेम या जातीयता कहते हैं उसका मौलिक उपकरण यही रूप एवं मनोगत ऐक्यबोधजनित आत्मीयता है, जिसके लिए आदिम मनुष्य अपने जन्मस्थान तथा समाज की रक्षा करने में प्राण तक दे देते थे, तथा समाज की किसी आभ्यन्तरिक विपत्ति के समय अथवा शत्रुओं के द्वारा पीड़ा किये जाने पर सब मिलकर उसे छोड़ नवीन देश की ओर गमन करते थे। यह सच है कि परिभ्रमण करती हुई जातियों में संघर्ष के साथ-साथ सम्मिश्रण भी होता था, जिससे उनके जातीय लक्षण कुछ अस्पष्ट हो गये थे, किन्तु फिर भी प्राचीन युग में कुछ अधिक रक्त सम्मिश्रण नहीं हो पाया। प्रकृति ने मनुष्य को कुछ अनुकूल विशेष स्थानों में लालन-पालन करके तथा विशिष्ट रूप एवं गुण प्रदान करके दूसरे प्रदेश के मनुष्यों से भिन्न कर दिया। बहुत काल तक मनुष्य अपने जन्म-स्थान तथा गोष्ठी के प्रभाव का अतिक्रमण नहीं कर पाया। उसके आदि जीवन का दस में से नवाँ भाग आदिम आवेष्ठन में ही कटा है अतएव उसका प्रभाव उसके अंग-प्रत्यंग में, उसकी नाड़ी-नाड़ी में, अङ्कित हो गया है। जब उत्तरी अफ्रीका तथा अरब में मरुभूमि विस्तृत होने लगी और बड़ी नदियों के किनारे मानव निवास केन्द्रीभूत होने लगा, तब एक ओर जहाँ जातीय लक्षण विशेष प्रकार से खिल उठे वहाँ दूसरी ओर लोकवृद्धि के कारण विराट् प्रसार और संघर्ष के फलस्वरूप अपेक्षाकृत प्राचीन जातियाँ क्रमशः अफ्रीका एवं दक्षिण पूर्व एशिया के गहन वन अथवा सीमान्त प्रदेश में फैल गईं। अति प्राचीन मौलिक जातियों का परिचय हम कृष्णवर्ण बौनों में ही मिलता है, जो अफ्रीका अथवा पूर्व एशिया के दुर्गम वनों में आजकल बसे हुए हैं, अथवा जो आस्ट्रेलिया के कृष्णवर्ण निवासियों के रूप में पाये जाते हैं। पृथ्वी की श्रेष्ठ जातियाँ, जिन्होंने उन्हें इस समय दूर हटा दिया है, इस समय मध्य-एशिया को केन्द्र बनाकर उसके आसपास फैले हुए विभिन्न मण्डलों में निवास करती हैं। जन्मभूमि से अधिक दूर तक परिभ्रमण करने को ये जातियाँ बाध्य नहीं हुईं। जिनको ऐसा करने को बाध्य होना पड़ा वे अपेक्षाकृत दुर्बल तथा परम प्राचीन जातियाँ हैं जो इस समय टसमानिया, केपकालोनी, ग्रीनलैण्ड तथा ब्राजील के सीमान्त में मौजूद हैं।

जब जातियाँ अपने रूप तथा गुणों का संग्रह धीरे-धीरे कर रही थीं उस समय वे अपने जैव जीवन के आरम्भ एवं विकास की आदिम अवस्था में ही स्थिर थीं अर्थात् वे श्वेत-काय, लाल-भूरी तथा कृष्णकाय जातियाँ थीं। प्रागैतिहासिक
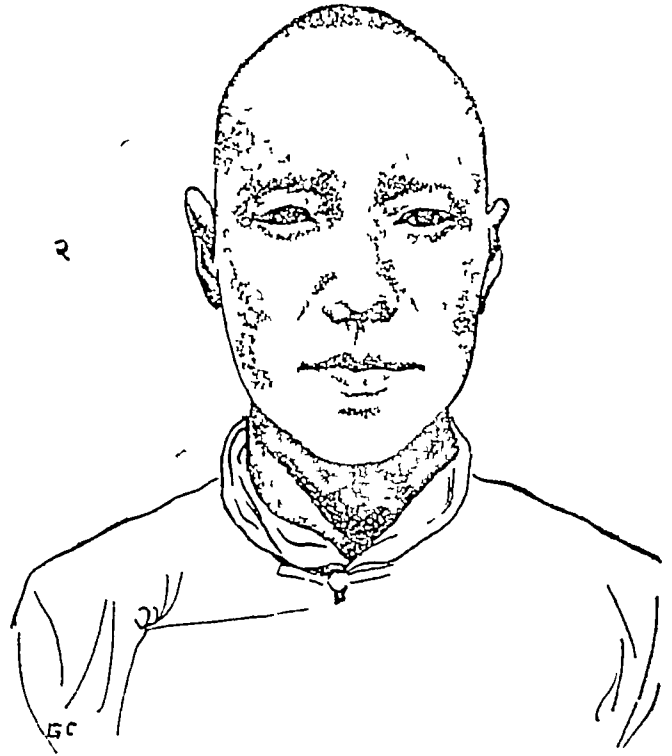
(१) कृष्णवर्ण नीग्रो जाति की एक युवती,
(२) पीतवर्ण मंगोलियन जाति का एक पुरुष,
(३) एक आस्ट्रेलियन आदिमवासी,
(४) हवाई द्वीप की एक स्त्री—यह संकर जाति का एक नमूना है।

तथा ऐतिहासिक युग में अधिक परिभ्रमण के फलस्वरूप जातियों का अधिक सम्मिलन होने से अनेक सङ्कर जातियाँ उत्पन्न हो गईं। यही सङ्कर जातियाँ सभ्यता का आलोक पृथ्वीमण्डल में यहाँ से वहाँ ले गईं। अतएव यही कहना समीचीन है कि इस समय शुद्ध, अविमिश्रित जाति कोई भी नहीं है। किसी-किसी के द्वारा नार्डिक, अलपाइन, मेडीटरेनियन आदि जातियों का नामोल्लेख किए जाने पर भी अधिकाश वैज्ञानिक इनके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उनका विश्वास है कि केवल तीन जातियों—ऑस्ट्रेलियन, नीग्रो एव मगोलियन—को पहचानना

धरती पर विजय प्राप्त करने के लिए आविष्कृत मनुष्य के कुछ विचित्र वाहन जो आज दिन
पृथ्वी के भिन्न भूभागों में काम में लाये जाते हैं

१ उत्तरी ध्रुवप्रदेशों के बर्फीले मैदानों में काम में लाई जानेवाली स्लेज गाड़ी, जिसे बारहसिंघे घसीटते हैं, २ दक्षिणी अमेरिका के पर्वतों में सवारी के काम में लाया जानेवाला लामा नामक चौपाया, ३ तिब्बत के लोगों का एकमात्र सहारा, याक नामक चौपाया, ४ 'रेगिस्तान का जहाज'—ऊँट, ५ मनुष्य की सबसे शान-शौकत की सवारी—हाथी, ६ सदियों से मनुष्य का सबसे बड़ा साथी घोड़ा, ७ घोड़ागाड़ी ८ राजपूताने का विचित्र वाहन—ऊँटगाड़ी, ९ देहात का वाहन—बैलगाड़ी, १० पालकी, जिसे आदमी ही उठाते हैं, ११ रिक्शा, जिसे स्वयं आदमी खींचते हैं, १२ चीन की ठेलागाड़ी, जिसे आदमी ही ठेलते हैं, १३–१४–१५. वैज्ञानिक युग की नियामत—साइकिल, रेलगाड़ी और मोटर।

धरती पर विजय—(१)

यातायात के साधन—सड़कों का विकास

समुद्र और वायु पर मनुष्य की गौरवपूर्ण विजयगाथा आपको पिछले कुछ लेखो मे सुनाई जा चुकी है। किंतु मनुष्य ने सागर अथवा आकाश की ओर निगाह दौड़ाई उससे शताब्दियो पहले ही उसे अपनी निवास-भूमि—धरती—से एक लंबा युद्ध छेड़ देना पड़ा था जिसका आज भी अंत नहीं हो पाया है। आइए, इस और आगे के कुछ लेखो मे आपको मनुष्य द्वारा धरती पर विजय पाने के प्रयत्नो का हाल सुनाएँ।

सुदूर अतीत के किसी धुँधले युग में अपने को मानव के नाम से पुकारनेवाला व्यक्ति किसी जानवर की खाल शरीर मे लपेटे हुए प्रतिदिन प्रातःकाल शिकार के लिए जगल को जाता और आखेट में मारे हुए जानवर के मृत शरीर को ज़मीन पर घसीटता हुआ बड़ी हिम्मत के बाद उसे अपने निवासस्थान को ले आता। कितने कठोर परिश्रम की वह ज़िन्दगी थी! मकान बनाने के लिए चट्टान के टुकड़े लाने होते तो उन्हें स्वय अपने ही सिर पर लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना होता।

फिर अपनी मिहनत बचाने के लिए तत्कालीन मनुष्य ने सबसे पहले अपने पालतू कुत्ते से काम लिया—बोझा ढोने का काम उससे लिया गया। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। योरप के अनेक देशो में तो आज भी दूध ढोनेवाली हलकी गाड़ियाँ कुत्ते खींचते हैं। ध्रुव-सम्बन्धी अभियानों में कुत्तों ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। राबर्ट पेरी, जिन्हें उत्तरी ध्रुव पर सबसे पहले पहुँचने का श्रेय प्राप्त है, यदि स्लेज खींचनेवाले २४६ कुत्तों को अपने साथ न ले जाते तो कदाचित् ध्रुव तक वे कभी पहुँच भी न पाते। शीत कटिबन्ध के हिमाच्छादित प्रदेशो में तो कुत्ते १२ घण्टे के दिन में १०० मील तक का सफ़र तय कर लेते हैं।

आदिम मनुष्य ने पहले-पहल भौंड़ी पहिएदार गाड़ी तैयार कर धरती पर विजय प्राप्त करने को एक लंबा क़दम बढ़ाया।

मनुष्य की सेवा में बोझा ढोने का काम घोड़ों ने कब से शुरू किया—इसका पता इतिहास को नहीं है। जीव-वैज्ञानिकों का ख़याल है कि घोड़ा साइबीरिया प्रान्त का आदि पशु है। किन्तु इतिहास की पहुँच के बाहर के उस अतीत काल में भी घोड़ा अपनी उपयोगिता के कारण योरप और एशिया के अन्य देशों तक पहुँच गया था और आजकल ससार के सभी देशों में घोड़ा और उसके भाई-बन्धु—खच्चर, गदहे आदि—पाए जाते हैं। यूनान में ६वीं शताब्दी में भी साधारण तौर पर बोझा ढोने और सवारी के काम में ख़च्चर का इस्तेमाल होता था।

एशिया, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में बोझा ढोने के लिए ऊँट का इस्तेमाल होता है। देखने में यह जानवर बेढगा जरूर मालूम पड़ता है, किन्तु घोड़े से चौगुना बोझ ढोकर ले जा सकता है और तीन-तीन चार-चार दिन तक भूखा रहकर भी अपना कर्त्तव्य बखूबी निबाह लेता है। प्राचीन काल की गाथाओं में हर कहीं शीघ्र-गामी वाहनों में साँड़िनी का स्थान सर्वोपरि रहा है।

बोझा ढोनेवाले ऊँट और साँड़िनी बिना किसी प्रकार की रुकावट के दो-दो दिन तक रास्ता चलते रहते हैं।

शान-शौकत के लिए हाथी की सवारी का प्रयोग भी प्राचीन काल से होता रहा है। आजकल भी बरसात के दिनों में देहात की पगडण्डी पर हाथी की सवारी सबसे ज्यादा आरामदेह समझी जाती है। बहुत पहले से ही लोग हाथी की बुद्धि की कद्र करना जानते थे। जगल में लट्ठों को इकट्ठा करना, उन्हें घसीटकर नदी के किनारे ले जाना, आदि काम हाथी से लिये जाते हैं।

टण्ड्रा सरीखे शीतप्रधान देशों में बारहसिंघे को ही स्लेज में जोतते हैं। उधर तिब्बत और आस-पास के पहाड़ी प्रान्तों में यॉक बैल का इस्तेमाल बोझा ढोने के लिए करते हैं।

निस्सन्देह पुराने युग में सड़कें कहीं पर भी न थीं। लोगों को सड़कों की आवश्यकता ही नहीं महसूस होती थी। हाँ, एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए पगडण्डियाँ अवश्य बनी हुई थीं। बोझा ढोनेवाले जानवर, घुड़सवार तथा साँड़िनी, इन सबकी ज़रूरतों के लिए पगडण्डी ही काफ़ी थी। पगडण्डी का मुख्य उद्देश्य था यात्री को पानी-भरे गड्ढों और कीचड़ से बचाना। उन दिनों योरप, एशिया तथा अन्य सभी भूभागों में सैकड़ों मील लम्बी पगडण्डियों का रास्ता बना हुआ था—वह एक निशान-सा था कि इस रेखा पर हमें चलना है।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य ने नये नये वाहनों का जब आविष्कार किया तब उसने महसूस किया कि अब पगडण्डियों से उसका काम नहीं चलने का, क्योंकि इस बीच उसने पहियोंवाली गाड़ियों का इस्तेमाल करना सीख लिया था।

पहियों के ईजाद की कहानी भी कम विचित्र नहीं है। मानव-सभ्यता के उस प्रारम्भिक काल में बाँस के दो छोटे छोटे टुकड़ों पर बोझा रखकर उसे जब लोगों ने घसीटने की तरकीब मालूम की तो उन्हें निस्सन्देह बड़ी प्रसन्नता हुई कि जिस बोझ को उन्हें अपने सिर पर उठाना पड़ता था, उसे अब वे इतनी आसानी के साथ जमीन पर ही घसीट सकते थे। लेकिन इस भद्दे ढग की स्लेज गाड़ी में रास्ते भर लकड़ी के दोनों डण्डे खुरदरी ज़मीन पर घसीटते चलते थे, इस कारण बोझ खींचनेवाले की मिहनत का बहुत-सा अंश बेकार जाता था।

चीन के एक पहाड़ी भाग के निवासियों की भौंडी पहियेदार गाड़ियाँ जिन्हें वे स्वयं खींचते हैं। आदिम पहियेदार गाड़ियाँ शायद ऐसी ही रही हों।

इसके बाद शायद एक दिन ऐसा हुआ कि पगडण्डी पर डाली का एक गोल सुडौल टुकड़ा आड़ी दिशा में पड़ा हुआ मिला। उस पर रखकर स्लेज को घसीटा गया तो बड़ी आसानी के साथ स्लेज आगे को फिसलने लगी। कदाचित् पहियेवाली गाड़ी का सर्वप्रथम रूप यह लकड़ी के टुकड़े पर लुढ़कनेवाली स्लेज गाड़ी ही थी। ठीक कहा नहीं जा सकता कि इसके कितने दिनों बाद सचमुच के पहियों का बनाना मानव जाति ने सीखा। उन दिनों किसी बुद्धिशील व्यक्ति ने, जिसकी कमर शायद लकड़ी के टुकड़े पर स्लेज लुढ़काते-लुढ़काते टूट रही थी, अपनी मिहनत बचाने के लिए लकड़ी के तने के बीच की बहुत-सी लकड़ी काटकर उसे पतले गोल बेलन की शक्ल का बना लिया होगा और उसके प्रत्येक छोर पर चक्की के पाट-जैसा छः-सात

इंच मोटा हिस्सा छोड़ दिया होगा। अब इस सम्मिलित धुरी और पहिये पर स्लेज को जोड़ना था। स्लेज के निचले डण्डों को पहिये की धुरी पर एकदम मज़बूती से बाँधा नहीं जा सकता था, क्योंकि स्लेज खींचते समय धुरी को भी पहियों के साथ-ही-साथ घूमना था। अवश्य इस समस्या को हल करने में तत्कालीन कुशल कारीगरों को बड़ी ही माथापच्ची करनी पड़ी होगी। शायद उन्होंने काफ़ी देर तक सोचने-विचारने के बाद स्लेज के निचले डण्डों में नीचे की ओर से पतला घर काटा होगा ताकि धुरी उस घर में ठीक बैठ जाय और इस तरह स्लेज धुरी पर टिकी भी रह सके और साथ ही धुरी के घूमने के लिए पूरी स्वतंत्रता भी रहे।

पहियेदार गाडी के विकास की दूसरी सीढ़ी थी ऐसे पहियों का निर्माण जो धुरी पर आसानी से घूम सकें। इसके लिए चक्की के पाट-जैसे अलग-से दो पहिये बनाकर उनके केन्द्र पर वृत्ताकार सूराख़ बना लिया होगा; फिर धुरी बनाकर उन्हीं सूराख़ों में पहना दी गई होगी।

पहिये के विकास की यह कहानी निस्सन्देह कल्पना के आधार पर तैयार की गई है। वास्तव में पहिये का विकास किस क्रम में हुआ, यह कोई भी ठीक-ठीक नहीं बता सकता।

आज से ५५०० वर्ष पहले सुमेरियन सभ्यता में पहियेदार गाड़ियों और रथों का प्रयोग साधारणतः होता था। उस समय के बने चित्रों में पहियेदार गाड़ियाँ अक्सर देखने को मिलती हैं। प्राचीन भारत, मिस्र और रूम में भी रथ का बनाना लोग बहुत पहले से जानते थे।

पहियेदार गाड़ियों के आगमन ने इस बात की आवश्यकता उत्पन्न की कि इन वाहनों के चलने के लिए ऐसे रास्ते बनाये जायँ जो चौड़े भी हों और जिनकी जमीन भी कड़ी हो। अभी तक मामूली पगडण्डियों पर ही स्लेज भी खींची जाती थी। किन्तु पहिये के बारीक़ किनारे मामूली

सड़कों का विकास

इसमें प्राचीन रोमन से लेकर आज की कंकरीट तक की सड़कों की रचना के मुख्य-मुख्य रूप दिखाए गए हैं। विशेष जानकारी के लिए लेख पढ़िए।
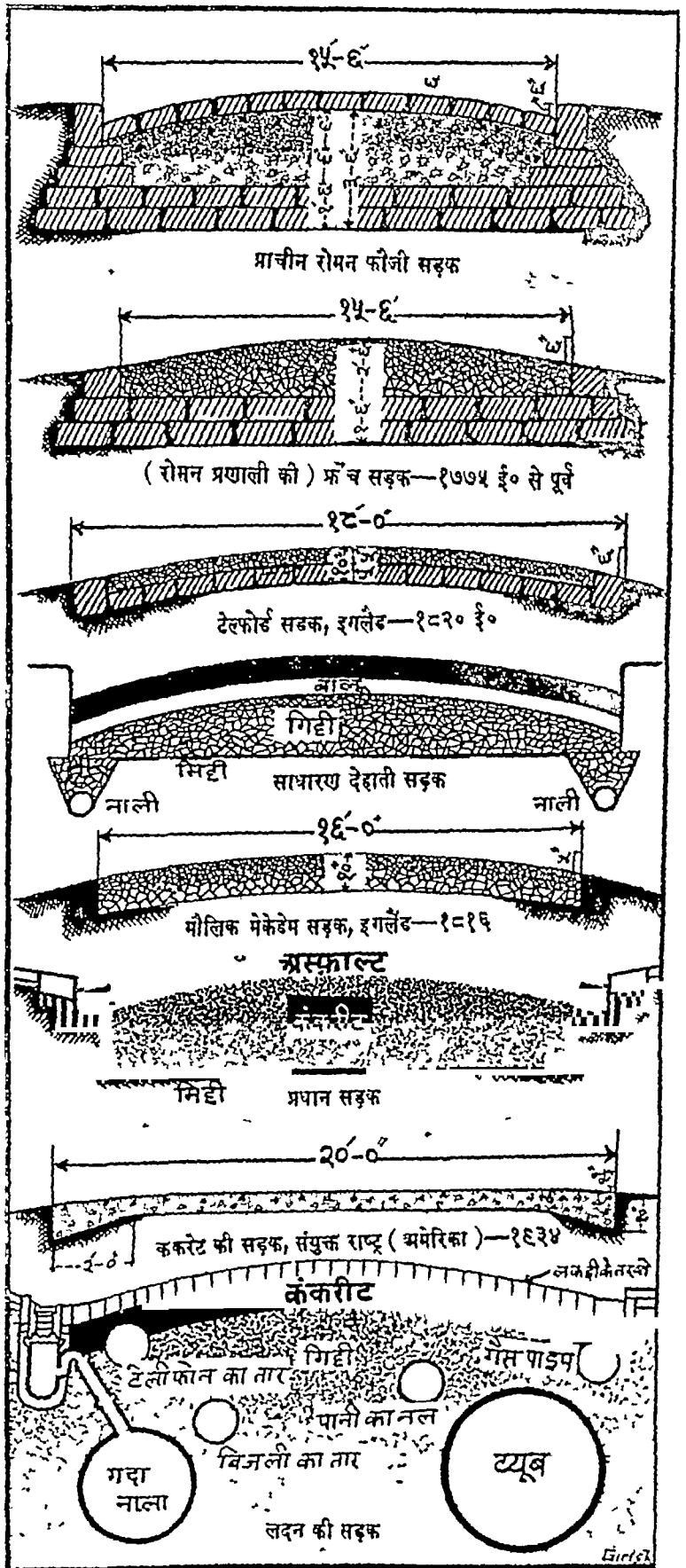
जमीन पर जल्दी ही गड्ढे कर देते हैं, अतः इनके लिए विशेष सावधानी के साथ सड़कों का बनाना शुरू हुआ। पक्की सड़क बनाना तो वे नहीं जानते थे, किन्तु सड़क की जमीन को पुख्ता बनाना जरूरी था अतः नरम जमीन पर पहले लोगों ने लकड़ी के मजबूत लट्ठे बिछाए।

पहियेदार गाड़ी तथा इन सड़कों ने संसार के व्यापार को बढ़ाने में बड़ी मदद पहुँचाई। अब ३००-४०० मील लम्बी सड़कों के रास्ते एक देश का माल दूसरे देश को आसानी से भेजा जाने लगा। आज से ५०० वर्ष पहले की बात है, यूनान से एक सीधी सड़क ईरान को जाती थी। यह सड़क उन दिनों खूब चलती थी। बीसियों प्रसिद्ध शहर इसके किनारे बस गये थे। इस सड़क से अफ़ग़ानिस्तान होकर भारत तथा उत्तर-पूर्व चीन को भी जा सकते थे। चीन का सुप्रसिद्ध रेशम इसी रास्ते से मिस्र, यूनान और फ़ारस की महिलाओं के लिए भेजा जाता था।

साँप की तरह बल खाती हुई कश्मीर को जानेवाली आधुनिक पहाड़ी सड़क, जिस पर मोटरें दौड़ती रहती हैं।

पत्थर की सड़क का सर्वप्रथम जिक्र मिस्र के ग्रन्थों में आता है। ईसा से ३००० वर्ष पूर्व मिस्र के बादशाह चेआप्स ने सड़क पर पत्थर के टुकड़े इस उद्देश्य से जड़ाये थे कि पिरैमिड के निर्माण के लिए पत्थर की विशालकाय शिलाएँ ढोनेवाली गाड़ियाँ आसानी से अपना बोझ ले जा सकें। इनमें से प्रत्येक शिला का वजन ७० मन था। कहते हैं कि हज़ारों गुलाम कुलियों ने दस वर्ष तक इस सड़क के बनाने में परिश्रम किया था।

तदुपरान्त कार्थेजियन लोगों ने पत्थर से जड़ी हुई सड़कों के निर्माण में विशेष योग्यता हासिल की। फिर रोमन लोगों ने इस ढंग की पायदार सड़क बनाने की कला को अपने समूचे साम्राज्य में फैलाया। पश्चिमी योरप और भूमध्य-सागर के तट के सभी देशों में रोमन सम्राटों की बनवाई हुई सड़कों के भग्नावशेष देखने को मिलते हैं। अवश्य इन सड़कों ने इन देशों के व्यापार की उन्नति में बड़ी मदद पहुँचाई, किन्तु इनके निर्माण में रोमन सम्राटों का भारी स्वार्थ निहित था। सेना को कम से कम समय में एक स्थान से दूसरे स्थान को भेज सकने के लिए सड़कें बड़ी उपयोगी साबित होती हैं। रोमन सम्राट् इसी स्वार्थ से प्रेरित होकर सड़कें बनवाने में बेहद रुपया ख़र्च करते थे, ताकि कहीं पर भी यदि विद्रोह की आशंका हो तो रात-की-रात में भिन्न-भिन्न छावनियों से वहाँ पर सेना पहुँच जाय। साम्राज्य के विस्तार में भी सड़कों को सदैव से ही एक महत्त्व-पूर्ण स्थान मिला है।

ब्रिटिश सरकार ने भी भारत में सड़कों का जाल इस देश की व्यापारिक उन्नति के भाव से प्रेरित होकर नहीं बिछाया था, बल्कि इसलिए कि जरूरत पड़ने पर तत्काल ही सेना देश के कोने-कोने से बुलाई जा सके।

रूम की सड़कें इटली के एक सिरे को दूसरे सिरे से मिलाती थीं। आल्प्स को पार कर वे फ़्रान्स और स्पेन तक पहुँचती थीं। ब्रिटेन पर जब रोमन लोगों ने अपना क़ब्ज़ा जमाया तो वहाँ पर भी देश के एक छोर से दूसरे छोर तक उन लोगों ने सड़कों का जाल बिछा डाला। रोमन सड़कों की पक्की फ़र्श दो-दो तीन-तीन फ़ीट मोटी होती थी। सीमेन्ट, चूना और पत्थर की गिट्टी, इन तीनों की मदद से पक्की फ़र्श तैय्यार कर ली जाती। फिर इस पक्की गच पर चिकने हमवार पत्थर के टुकड़े एक दूसरे से सटा

कर बिछा दिये जाते। निस्सन्देह ये सड़कें निहायत मजबूत हुआ करती थीं जैसा कि १५००—१७०० वर्ष बाद उनके भग्नावशेषों को देखने से पता चलता है।

रोमन सड़कों की ख़ास विशेषता यह थी कि वे एकदम सीधी बनायी जातीं थीं। सामने पहाड़ आ गया तो उसी के ऊपर से सड़क जायगी या फिर उसे काटकर रास्ता निकालेंगे। नदी सामने पड़ी तो उस पर पुल बनाएँगे किन्तु जायँगे एकदम सीधी रेखा मे। ये सड़कें प्रायः सँकरी ही होती थीं। इनकी चौड़ाई १५ फ़ीट से अधिक नहीं होती थी। दो से ज्यादा गाड़ियाँ इन सड़को पर एक साथ नहीं गुजर सकती थीं। सड़क के दोनों ओर गहरी नालियाँ थीं ताकि सड़क से पानी बहकर इन्हीं नालियों में चला जाया करे। किन्तु इन नालियो की वजह से सड़क पर तेज़ रफ्तार से गाड़ी हाँकना बहुत ही ख़तरनाक था।

इन सड़कों को तैय्यार करने में सैनिकों, कारीगरो, राजगीरों और आस-पास के रहनेवालों की भी मदद ली जाती थी। सम्राट् की आज्ञा थी, अतः बिना किसी क़िस्म की चूँ चपड़ किये इन लोगों को इस राष्ट्रीय योजना में सहयोग देना पड़ता। अक्सर तो सैनिक विद्रोह कर बैठते कि हमने युद्धस्थल में लड़ने के लिए नौकरी की थी, न कि पर्वतों में सुरंग खोदने या उमड़ी हुई नदी पर पुल बाँधने के लिए। रोमन अदालतों में प्रायः आजन्म क़ैद की सज़ा न देकर अपराधी को यह दण्ड दिया जाता था कि तुम्हें आजन्म सड़को पर गिट्टी कूटनी होगी या नहर खोदने का काम करना होगा।

आधुनिक सड़कें बनानेवाले ट्रैक्टरो और रोड-रॉलरों का एक जत्था। आज दिन इन मशीनों की मदद से पुख्ता सड़कें बात की बात में तैयार कर दी जाती हैं।

चीन में बढ़िया क़िस्म की सड़कें हजारों वर्ष पहले से बनायी जाने लगी थीं। रोमन सड़कों की भाँति उनकी लम्बाई भी सैकड़ों मील तक पहुँचती थी और उनकी भी फ़र्श पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़ों से जड़ी होती थी। किन्तु चीन में सड़को का जाल विस्तृत रूप से कभी बिछ न सका, क्योंकि इधर-उधर जाने के लिए तथा व्यापार के काम के लिए भी नदियों और नहरो के रास्ते से ही आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थीं। नदी और नहरो की अधिकता के कारण चीन की सड़को पर जगह-जगह विचित्र ढंग के पुल बने हुए हैं। ये पुल कला और सुरुचि के परिचायक हैं। किन्तु चीन की सड़कें रोमन सड़को की तरह सीधी नहीं जातीं। इन सड़को में हद से ज्यादा सख्या में मोड़ पाये जाते हैं। जनसाधारण के बीच इसका कारण यह बताया जाता है कि सीधी सड़कों पर प्रेतात्माएँ यात्रियों का पीछा करती हैं, और जहाँ-कहीं मोड़ आ जाता है प्रेतात्माएँ वहाँ घबरा जाती हैं, वे टेढ़े रास्ते पर आगे बढ़ नहीं सकती। इसी मिथ्या विश्वास के कारण चीन की सभी प्राचीन सड़कें पेच व ख़म खाती हुई आगे बढ़ती हैं। किन्तु इजीनियरिंग के दृष्टिकोण से टेढ़ी सड़कें बनाने का यह कारण जान पड़ता है कि पहाड़ी प्रान्तों में टेढ़ी सड़कों द्वारा ही बोझ से लदी हुई गाड़ियाँ उँचाई पर आसानी से चढ़ सकती हैं।

दक्षिणी अमेरिका में लगभग १७०० वर्ष पूर्व इक्वेडार प्रान्त के क्विटो नगर से अर्जेन्टिना प्रान्त तक ४०० मील लम्बी सड़क बनाई गई थी। यह सड़क २५ फ़ीट चौड़ी थी। इस सड़क पर कुछ दूर तक पत्थर जड़े थे और शेष पर एसफाल्ट या कोलतार बिछाया गया था। इस सड़क के बनाने में तत्कालीन इञ्जीनियरों को कहीं-कहीं पर दो-दो मील ऊँचे पहाड़ों को काटना पड़ा था, तो कहीं पर गहरे खड्डों को या तो पुल द्वारा पार करना पड़ा था या फिर उन्हें पत्थर के टुकड़ों से भर देना पड़ा था।

यातायात के साधनों के विकास में प्राचीन भारतवर्ष भी अन्य किसी देश से पीछे नहीं रहा है। यद्यपि चीन की तरह इस देश में भी आंतरिक व्यापार और आवागमन के मार्गों में नदियों का स्थान प्रमुख रहा है, फिर भी स्थल-मार्गों के निर्माण और विकास के प्रति यहाँ उदासीनता न थी। जिन दिनों ग्रीस और रोम का पता भी न था, उस समय भी भारत के नगरों में आवागमन के लिए सुविस्तृत राजमार्ग और गंदे पानी के निकास के लिए बनाई गई पक्की ढकी नालियों से युक्त वीथिकाएँ होने के प्रमाण मिले हैं। सिंधु की तलहटी में पाँच हजार वर्ष पूर्व के मोहन-जो-दड़ो नगर के भग्नावशेषों में ऐसे रास्ते और गलियाँ निकली हैं, जिनमें उपरोक्त प्रकार की ईंटों से बनी नालियाँ हैं। ये छोटी नालियाँ प्रधान पथ के बड़े नाले में जा मिलती थीं। जो लोग अपनी बस्तियों में आवागमन के लिए इतने साफ़-सुथरे और वैज्ञानिक ढंग के रास्ते बना सकते थे, उन्होंने एक नगर से दूसरे नगर अथवा ग्रामों को जाने के मार्गों का भी अवश्य ही निर्माण किया होगा। अचरज नहीं कि आर्यावर्त्त के विभिन्न जनपदों में उन दिनों नदियों के जलमार्गों की तरह सुगम स्थलमार्गों या सड़कों की भी जाल बिछी हो।

'राजपथ' या प्रधान राजमार्गों का भारत के प्राचीन ग्रंथों में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। महाराज रामचंद्र के जमाने से पहले ही एक से दूसरे प्रदेश तक रथों के दौड़ने के मार्ग बन चुके थे। वन को जाते समय शृंगवेरपुर तक रामचंद्र रथ पर आये थे और वहाँ से गंगा पारकर आगे बढ़े थे। इससे ज्ञात होता है कि अयोध्या से वहाँ तक रथों के चलने योग्य सड़क रही होगी। महाभारत-काल में तो राजपथों का और भी अधिक विस्तार हो चुका था। श्रीकृष्ण का रथ द्वारका और हस्तिनापुर के बीच प्राय दौड़ता ही रहता था। इन मार्गों का विस्तारपूर्वक वर्णन आज उपलब्ध नहीं है, अतएव यह बताना कठिन है कि ये सड़कें कैसी होती थीं। प्राचीन शिल्पशास्त्रों में ग्रामनिर्माण के वर्णन में ऐसे 'राजपथ' का उल्लेख मिलता है, जिसके दोनों ओर घने वृक्षों की क़तारें होती थीं और जो एक गाँव से दूसरे गाँव को आने-जाने तथा व्यापार आदि का प्रधान मार्ग होता था। चंद्रगुप्त मौर्य्य के काल में आकर हमें इन राजपथों का विशेष विवरण मिलता है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सैनिक और आर्थिक दृष्टि से इन राजपथों और सड़कों के महत्त्व पर बहुत ज़ोर दिया है। उनके निर्माण तथा रक्षा का भार शासक पर होता था। चंद्रगुप्त के राज्य का प्रधान "राजपथ" पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) से तक्षशिला (पेशावर के निकट आधुनिक टैक्सिला) तक जाता था। यह सड़क रास्ते में साम्राज्य के प्रधान-प्रधान नगरों को एक दूसरे से जोड़ती थी। एक और सड़क पाटलिपुत्र से प्रयाग, भारहुत और विदिशा होती हुई मालव की राजधानी उज्जैन तक जाती थी, जो एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था। वहाँ से एक बड़ी सड़क सिंधु के मुहाने तक और दूसरी पश्चिमी समुद्र-तट पर भृगुकच्छ (आधुनिक भड़ौंच) तक जाती थी। सारे साम्राज्य में इन राजमार्गों का जाल बिछा था। इन राजपथों के आसपास यात्रियों की सुविधा के लिए बने छायावाले वृक्ष लगे रहते थे और थोड़ी-थोड़ी दूर पर पानी के कुएँ, यात्रियों के विश्रामगृह या धर्मशालाएँ, पुलिस की चौकियाँ और डाकघर भी बने रहते थे। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि इन सड़कों पर दूरी और दिशा का निर्देश करने के लिए आज की तरह मील के पत्थर भी लगे होते थे! इन सड़कों की मरम्मत के लिए सरकारी इंतज़ाम था। जो गाँव इनकी मरम्मत में सहायता देते थे उनका कर माफ़ कर दिया जाता था। इन राजमार्गों में आवागमन में बाधा डालनेवाले अथवा उनको ख़राब करनेवालों पर जुर्माना किया जाता था।

कौटिल्य ने कई प्रकार की सड़कों का वर्णन किया है। उनमें पत्थरों या लकड़ी के तख़्तों से जड़ी हुई रथों के चलने योग्य सड़कें, माल ढोनेवाले चौपायों के योग्य सड़कें, यहाँ तक कि श्मशान को जानेवाले मार्गों का भी उल्लेख है। प्रधान राजमार्ग, गाड़ियों के रास्ते और पगडंडियों के अलावा ख़दानों, चरागाहों, बगीचों, अमराइयों, जंगलों और प्रधान-प्रधान क़स्बों को जोड़नेवाली सड़कों का भी उल्लेख मिलता है। प्रत्येक सड़क का एक ख़ास माप होता था। ४ फ़ीट से लगाकर ३२ फ़ीट चौड़ाई तक की सड़कें होती थीं। प्रधान राज पथ और व्यापारिक मार्ग तो इससे भी दुगनी चौड़ाई के होते थे। कौटिल्य ने इन सड़कों पर चलनेवाले रथ, गाड़ी, पालकी, ऊँट, घोड़े-गधे आदि तरह-तरह के वाहनों का भी वर्णन किया है।

चीनी यात्री "सुयेन च्वाङ्ग" ने भारत में बहुत ही उम्दा सड़कों के होने का उल्लेख किया है। दक्षिण में चोल राजाओं ने भी सड़कों के निर्माण में बड़ा भाग लिया था।

गुप्त-काल में भी यह क्रम जारी रहा। मुसलमानी जमाने में शेरशाह ने सड़कों की सुरक्षा के लिए ख़ास तौर से ध्यान

दिया था। पंजाब से बंगाल तक जानेवाली वर्तमान "ग्राण्ड ट्रंक रोड" शेरशाह के ज़माने से है। मुग़लों के ज़माने में तो और भी अच्छी सड़कें बनने लगी थीं।

इङ्गलैण्ड में रोमन लोगों के चले जाने के बाद कई सौ वर्ष तक सड़कों की मरम्मत की तरफ किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। सड़कों की यह हालत हो गई थी कि पता नहीं चलता था कि सड़क कहाँ पर ख़त्म होती थी और कहाँ पर किनारे के खेतों का प्रारम्भ होता था। सड़कों के बारे में पार्लियामेण्ट का पहला क़ानून एडवर्ड प्रथम के जमाने में बनाया गया था। इस क़ानून का आशय था कि किसी भी सड़क के किनारे पर झाड़ियाँ वग़ैरह न लगाई जायँ क्योंकि झाड़ियों के पीछे से अचानक चोर-डाकू यात्रियों पर हमला कर सकते हैं। इङ्गलैण्ड में अच्छे ढंग की सड़कों का निर्माण १८ वीं शताब्दी के पहले आरम्भ नहीं हुआ था। स्काटलैण्ड में १७१५ में विद्रोह हुआ था। उसे दबाने की जब इङ्गलैण्ड ने कोशिश की तो फौज़ी अफसरों ने महसूस किया कि अच्छी सड़कों के बिना फौजें एक स्थान से दूसरे स्थान को आसानी से भेजी नहीं जा सकतीं। सड़कों की कमी की वजह से विद्रोह के दमन में वे जैसी आशा करते थे वैसी सफलता उन्हें नहीं मिली। अतः इङ्गलैण्ड की सरकार ने स्काटलैण्ड के कमाण्डर-इन-चीफ़ को हुक्म दिया कि समूचे स्काटलैण्ड में सड़कों का जाल बिछा दो। शीघ्र ही इस स्कीम के अनुसार कई एक बढ़िया सड़कें स्काटलैण्ड में बन गईं। ये सड़कें ख़ूब चौड़ी बनाई गईं। पार्लियामेण्ट का कानून बन गया था कि राजपथ की सड़कें २०० फ़ीट चौड़ी बनायी जायँ।

पाश्चात्य देशों में आधुनिक कंक्रीट की सड़कें बनाते समय सीमेन्ट की तह के साथ इस तरह की लोहे के छड़ की एक जाली बिछा दी जाती है, जिससे सड़क का कंक्रीट बेहद मज़बूत हो जाता है।

पक्की सड़क बनाने की आधुनिक प्रणाली के ईजाद का श्रेय दो अंग्रेज इञ्जीनियर जान मैकाडम और टामस टेल्फ़र्ड को प्राप्त है। मैकाडम ने सर्वप्रथम इस बात पर ज़ोर दिया था कि रोमन लोगों की तरह सड़क के फ़र्श के लिए एक गज मोटी गच तैय्यार करने की बिल्कुल जरूरत नहीं है। उसने बताया कि सड़क पर पत्थर के नुकीले टुकड़े, जो क़रीब ढाई इञ्च के आकार के हों, यदि कच्ची किन्तु बिना धूलवाली सड़क पर दस बारह इंच की मुटाई तक कूट दिये जायँ, तो उनके नोक आपस में एक दूसरे से अच्छी तरह गुँथ जायँगे। और इस तरह फ़र्श एकदम पक्की बन जायगी। इस पर जब गाड़ियाँ चलेंगी तो ऊपर की सतह बैठकर एकदम चिकनी हो जायगी, और बरसात का पानी सड़क में जज्ब न होगा। मैकाडम ने इस बात को भी महसूस किया था कि यदि सड़क पर से पानी के बहकर निकल जाने का ठीक इन्तजाम न हुआ तो कोई भी सड़क ज्यादा दिनों तक कायम नहीं रह सकती। अतः सड़कें आस-पास की जमीन की सतह से ऊँची रखी जाने लगीं।

मैकाडम की प्रणाली वैसे सफल तो अवश्य साबित हुई, किन्तु इसमें एक भारी अवगुण यह था कि शुरू में जब पत्थर के रोड़े सड़क पर बिछाए जाते तो उस पर चलनेवालों को एकाध सप्ताह अपार कष्ट होता। तब टेल्फ़र्ड ने मैकाडम की उक्त प्रणाली में एक सुधार यह किया कि सड़क पर रोड़े बिछाते समय बड़े आकार के रोड़े तो सबसे नीचे डाले जायँ, और ज्यों-ज्यों ऊपर आएँ इन रोड़ों का आकार छोटा करते जायँ, यहाँ तक कि सबसे ऊपरी सतह पर निरी छर्रियाँ ही डाली जायँ। तदुपरान्त एक दूसरे इञ्जीनियर ने सलाह दी कि ऊपरी सतह पर छर्रियों पर बालू भी डाल दी जाया करे ताकि आरम्भ से ही सड़क की सतह चिकनी बनी रहे। आधुनिक युग की सड़कें साधारणतः इन तीनों प्रणाली के योग से बनायी जाती हैं।

मैकाडम और टेल्फ़र्ड की संयुक्त योजना के अनुसार सब कहीं कम ख़र्च में बढ़िया सड़कें बनने लगीं।

सड़कों के सुधरते ही इंगलैंड में घोड़ागाड़ियाँ इधर से उधर दौड़ने लगीं। शुरू में इन गाड़ियों में धुरी और सीट के बीच कमानी नहीं थी। इससे ऊँची-नीची सड़कों पर बैठनेवालों को जबर्दस्त धक्का लगता। फिर धीरे-धीरे इनके निर्माण में भी अनेक सुधार हुए। आरामदेह कमानीदार गाड़ियाँ बनने लगीं। इन गाड़ियों का किराया उन दिनों काफ़ी ऊँचा था, इस कारण साधारण जनता को इन गाड़ियों में चढ़ने का सौभाग्य बहुत कम प्राप्त होता। १८२९ में लन्दन की सड़कों पर साधारण जनता के लिए भी 'आमनीबस' घोड़ागाड़ियाँ चलने लगीं। लन्दन के सर्वप्रथम आमनीबस में २३ पसेञ्जरों के लिए बैठने की जगह बनी थी, और इसमें तीन घोड़े जुतते थे। जनता ने इस सस्ती सवारी को इतना अधिक पसन्द किया कि साल भर के अन्दर ही लन्दन की सड़कों पर सवारियाँ ढोनेवाली आमनीबसों की संख्या ६००से ऊपर पहुँच गई।

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल तक चूँकि एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए लोगों को कोच या आमनीबस का सहारा लेना पड़ता था, इस कारण बराबर सड़कों की उन्नति जारी रही। किन्तु इसी बीच रेल के इञ्जिनों का भी विकास हो रहा था। १८२५ में दुनिया की सर्वप्रथम पब्लिक रेलगाड़ी तैयार हुई थी। रेलगाड़ी ने निस्सन्देह पक्की सड़कों की समृद्धि को एक जबर्दस्त धक्का पहुँचाया। लम्बी यात्राओं के लिए लोग रेलगाड़ियों का इस्तेमाल करने लगे। सड़कों के किनारे की सरायें सूनी पड़ गईं। जिन सरायों में सौ सौ घोड़े डाक बदलने के लिए बँधे रहते थे, वहाँ एक भी घोड़ा नजर नहीं आने लगा। इसी कारण लम्बी-लम्बी सभी सड़कें एकदम बेमरम्मत पड़ गईं। इन सड़कों पर सब ठौर कीचड़, गड्ढे और धूल नजर आती। साइकिल चलानेवालों की तो इन सड़कों पर जैसे आफ़त ही आ गई थी। १९वीं शताब्दी के अंत तक सड़कों की यही दुर्दशा रही।

२०वीं शताब्दी में पुनः सड़कों के भाग्य फिरे। मोटरकार के आविष्कार ने सड़कों की रौनक एक बार फिर बढ़ाई। मोटरकार को सड़क पर चलने से रोकने के लिए तत्कालीन पार्लियामेंट ने अपनी ओर से कुछ उठा न रक्खा। इस संबंध में एक क़ानून पास हुआ था, जिसके द्वारा यंत्र से चलने-

मोटरों को लंबी यात्रा करते समय कोई रुकावट न हो इसलिए पाश्चात्य देशों की आधुनिक कंक्रीट की सड़कें चौराहे पर पुल द्वारा एक-दूसरे के नीचे से गुजारी जाती हैं। इस चित्र में ऐसा ही एक चौराहा दिखाया गया है।
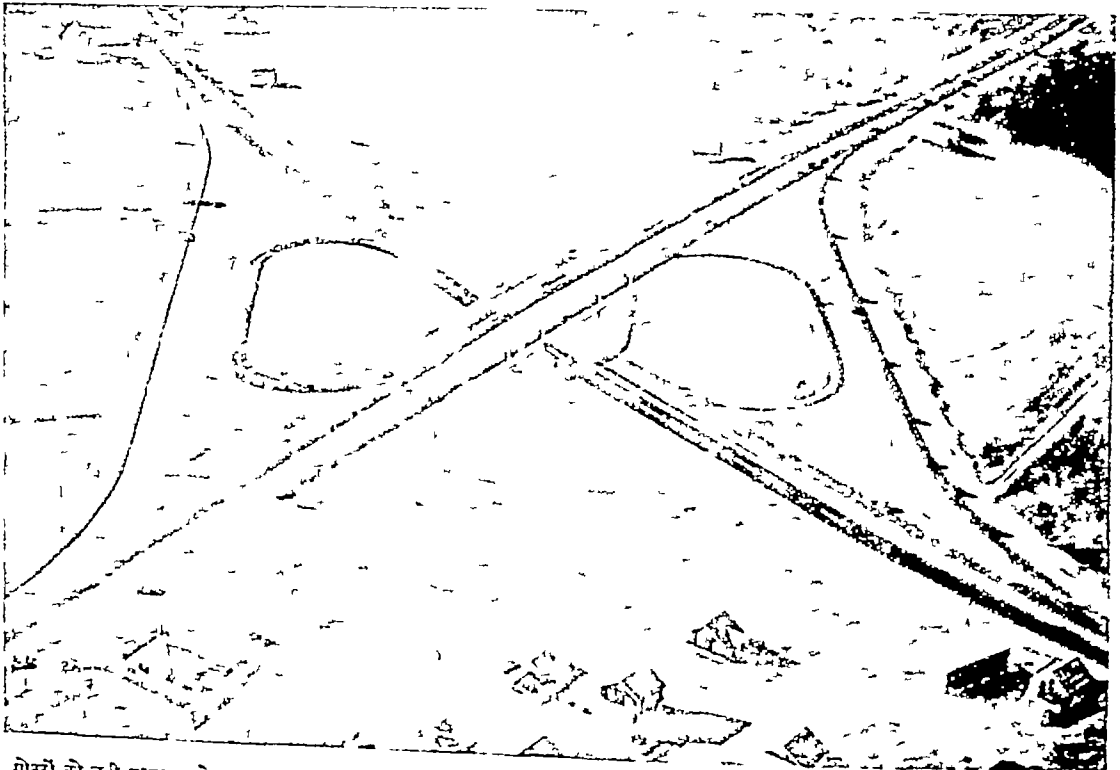
वाली गाड़ी पर यह जबर्दस्त प्रतिबन्ध लगाया गया था कि उसके आगे-आगे घोड़े पर सवार होकर एक व्यक्ति लाल झण्डा दिखाता चले, और ऐसे वाहन की रफ्तार शहर के अन्दर २ मील प्रति घंटे से अधिक न होने पाए। पार्लियामेंट ने यह कानून इसलिए नहीं बनाया था कि उसे मोटरकार से जनता की जान के लिए ख़तरे का अंदेशा था। बल्कि इसलिए कि घोड़ागाड़ी और आमनीबसवालों ने मोटरकार के विरुद्ध अपने स्वार्थवश जबर्दस्त प्रोपैगैण्डा करना शुरू कर दिया था। वे जानते थे कि सड़कों पर यदि बहुतायत से मोटरें चलने लगीं तो उनकी रोजी मारी जायगी!

आख़िर १८९६ में उक्त क़ानून रद्द कर दिया गया और फ्रान्स-जर्मनी की भाँति इङ्गलैण्ड की सड़कों पर भी मोटरें गर्द उड़ाती हुई इधर-से-उधर दौड़ने लगीं। अत. गर्द से बचने के लिए सड़कों पर कोलतार डाला जाने लगा। कोलतार से सड़क की छर्रियाँ भी एक दूसरे से चिपककर अच्छी तरह बैठ जातीं और धूल भी न उड़ती। भिन्न भिन्न देशों में सड़क बनाने के लिए सुविधानुसार कोलतार, लकड़ी के कोयले या निरी लकड़ी का प्रयोग किया जाने लगा। किन्तु जब भारी बोझ ढोनेवाली लारियाँ सड़कों पर चलने लगीं, तब मालूम हुआ कि इस प्रकार की साधारण मैकाडम ढग की सड़कें कमजोर पड़ती हैं। इस बात की आवश्यकता महसूस की गई कि भारी बोझा सँभालने के लिए न केवल सड़क की सतह मज़बूत और चिकनी होनी चाहिए बल्कि उसकी गच भी ख़ूब पुख़्ता बनाई जानी चाहिये। अत. गच में अब पहले कंक्रीट सीमेन्ट की एक मोटी तह बिछाई जाती है, फिर इसके ऊपर एसफाल्ट या रबर की एक पतली तह डालते हैं। अक्सर इस गच को बिठाते समय फौलाद के छड़ों का एक जाल-सा उसमें बिछा देते हैं। इससे समूची गच ख़ूब मजबूत बैठ जाती है। लोहे के छड़ डालने से एक ख़ास क़िस्म का फ़ायदा यह होता है कि सड़क के नीचे से यदि गैसपाइप या विद्युत्-तार वग़ैरह ले जाने के लिए सड़क को खोदना पड़ा तो एक जगह खोदने से अन्य जगह की गच को एकदम नुक़सान नहीं पहुँचता—लोहे की छड़ों के जाल के कारण उनकी मजबूती क़ायम रहती है।

लन्दन की अनेक सड़कों पर बढ़िया क़िस्म की लकड़ी बिछी हुई है। ये लकड़ी की सड़कें काफ़ी मजबूत ठहरती हैं। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि जितना ही अधिक इन पर सवारियों का आना-जाना होता है, उतना ही ज्यादा इनकी पुख्तगी बढ़ती जाती है, क्योंकि लकड़ी के रेशे दबकर दिन-प्रति-दिन और भी मज़बूत होते जाते हैं।

आधुनिक काल मे पक्की सड़कों की निर्माण-कला ने वही महत्त्व प्राप्त कर लिया है जो रेल की सड़कों को मिल चुका है। पत्थर का प्रत्येक टुकड़ा. एसफ़ाल्ट का नमूना और फ़ौलाद की छड़, जो सड़क की गच मे डाली जायगी, इन सबकी प्रयोगशाला के अन्दर पहले भली भाँति जाँच कर ली जाती है। और जब ये एकदम निर्दोष उतरते हैं तभी सड़क बनाने के लिए इनका इस्तेमाल किया जाता है, अन्यथा नहीं। गच के लिए एक ख़ास गुर के अनुसार कंक्रीट सीमेण्ट तैय्यार की जाती है। फ़र्श पर डालने के पहले कोलतार की भी परीक्षा कर ली जाती है कि कहीं कोलतार इतना पतला तो नहीं कि जेठ की दुपहरिया में वह पिघलकर राहचलतों के पैर में चिपचिपाए? हमारे देश के अनेक शहरों में, जहाँ अब कोलतार की सड़कें बनने लगी हैं, अक्सर रास्ता चलनेवालो को इस मुसीबत का सामना करना पड़ता है!

योरप में सड़क कूट-पीटकर जब तैयार हो जाती है तो भाँति-भाँति के यन्त्रो द्वारा उसकी मजबूती की जॉच भी की जाती है कि कितने दिनों तक यह सड़क बिना मरम्मत टिक सकेगी। हमारे देश में हफ्तो सड़क की मरम्मत के लिए 'रास्ता बन्द है' का नोटिस सड़क पर लगा रहता है, किन्तु योरप, अमेरिका आदि के इञ्जीनियर इस लिहाज से हमसे कोसों आगे बढ़े हुए हैं। नई सड़कों के निर्माण और उनकी मरम्मत में ये लोग ग़ज़ब की फुर्ती दिखाते हैं। डायनामाइट की मदद से विशालकाय चट्टानें पहाड़ों में से तोड़ी गयीं, फिर मशीनो की मदद से तोड़कर उनसे छोटे-छोटे टुकड़े तैय्यार किये गये। छलनी वाली मशीनो ने साइज के लिहाज से इन टुकड़ो को कई ढेरियो में बाँट दिया। यदि कुछ एक टुकड़े साइज में बहुत बड़े हुए तो इन्हें कूटनेवाली मशीन में फिर वापस भेज देते हैं। स्टीम-रॉलर ने सड़क कूटने के काम को और भी सहल बना दिया है।

ससार की सबसे लम्बी मोटर की सड़क अमेरिका मे है। यह सड़क अटलांटिक शहर से फिलाडेल्फ़िया, साल्टलेकसिटी, सैक्रोमेंटो और आकलैण्ड होती हुई पैसिफ़िक के तट तक जाती है। इसकी कुल लम्बाई ३२१६ मील है। एक स्थान पर तो यह समुद्र के धरातल से ६५०० फीट ऊँची है। दुनिया की सबसे ऊँची सड़क दक्षिण अमेरिका के पीरू प्रान्त मे है। एकाध जगह इसकी ऊँचाई समुद्र की सतह से १५८२० फीट है।
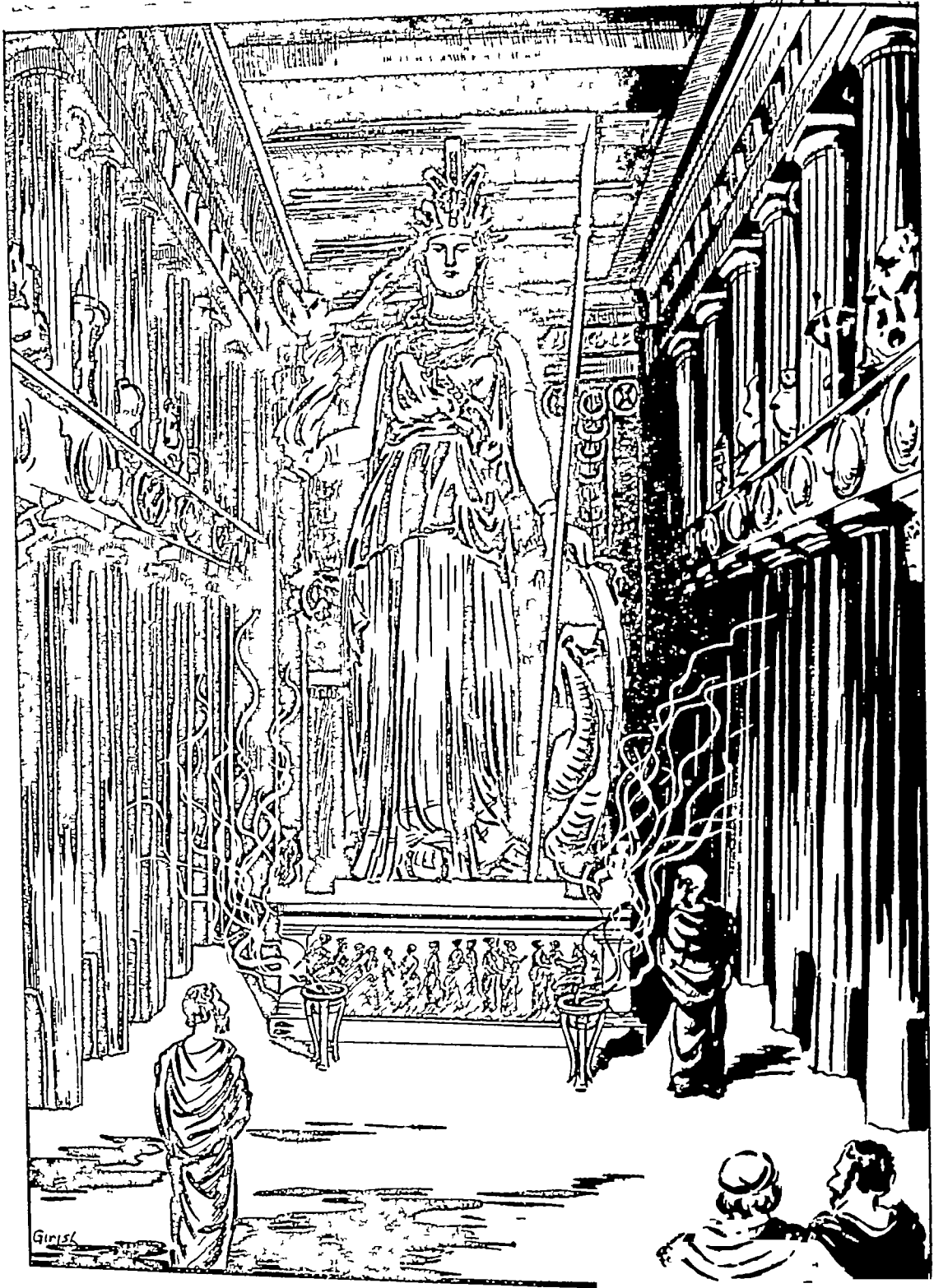
एथेन्स के पार्थेनन नामक देवालय में फीडिआस द्वारा निर्मित एथिना देवी की दीर्घकाय मूर्त्ति

आज दिन इस मूर्त्ति अथवा पार्थेनन के भीतर की सजावट का कोइ भी अवशेष उपलब्ध नहीं है। केवल प्राचीन वर्णन के आधार पर न्यूयार्क के मेट्रापालिटन म्यूज़ियम ऑफ़ आर्ट में इसकी एक नक़ल तैयार की गई है। यह चित्र उसी के आधार पर बनाया गया है।

मनुष्य की कलात्मक सृष्टि

ग्रीस की कला—(२)

मध्य और उत्तरकालीन युग

सलमिस और प्लेटीआ की महत्त्वपूर्ण निर्णयकारी विजयों के पश्चात् ग्रीस का इतिहास अपेक्षाकृत शान्ति के एक युग में पदार्पण करता है। चाहे कुछ ही समय के लिए हो फिर भी ईरानी आक्रमणकारियों की उमड़ती हुई बाढ़ सफलतापूर्वक कुचल दी गई है, और एकतारहित ग्रीक नगर-राज्यों में क्रमशः राजनीतिक एकीकरण की भावना काम करने लगी है।

प्रायः यह कहा जाता है कि शान्ति की प्रतिनिधि कलाएँ सबसे अधिक राजनीतिक सुशान्ति के समय में ही पनपती हैं। युद्ध के अंध उन्माद से छुटकारा पाने पर मानव मस्तिष्क कला और साहित्य में, कल्पना और स्वप्न में, तथा विवेक और व्यवस्था को फिर से संस्थापित करने में अपने लिए अभिव्यक्ति की नवीन धाराएँ खोजता है। इसके प्रमाण के लिए समुज्ज्वल लेखकों, कलाकारों, तत्त्व-विचारकों और वैज्ञानिकों के प्रकाशवान् नक्षत्र-मंडल से खचित इंगलैंड के विक्टोरियन युग का उदाहरण प्रायः प्रस्तुत किया जाता है कि किस प्रकार अपेक्षाकृत राजनीतिक शान्ति का युग रचनात्मक शक्तियों के पनपने और अबाध्य रूप से खिल उठने में सहायक होता है—किस प्रकार राष्ट्रीय समृद्धि ललित कलाओं के वृद्धि पाने और फूलने-फलने में योग देती है।

पेरीक्लीज़

जिसके शासन-काल में ग्रीस की सृजनात्मक शक्तियों का ऐसा सार्वभौमिक विकास हुआ था कि "पेरीक्लीज़ के युग" को अनेक इतिहासकार "ग्रीस का स्वर्णयुग" कहकर अभिहित करते हैं।

कुछ भी हो, प्लेटीआ और सलमिस के युद्धों की विजय के बाद के काल में, जिसे इतिहास में मोटे तौर पर "पेरीक्लीज का युग" कहते हैं, एथेन्स में ग्रीक साहित्य, दर्शन और कलाओं के विविध अंग एक उद्दाम भाव से खिल उठे। इसी समय से एथेन्स, जिसे अभी तक राजनीतिक या बौद्धिक क्षेत्र में अपेक्षाकृत कुछ भी महत्त्व न दिया जाता था, ग्रीस के नेतृत्व का दावा करने लगी। इससे पहले शक्ति में स्पार्टा, संस्कृति में आयोनिया और द्वीपपुंज, गीति-काव्य में लेस्बॉस, और तत्त्वदर्शन तथा विज्ञान में इफीसस और मिलीटस की धाक थी। इसके अतिरिक्त पश्चिम में सिसिली के नगर साइरेक्यूज, सिलिनस, साइबेरिस, एग्रीगेंटम और पीस्टम थे, जो संपत्ति और सांस्कृतिक उन्नति में एथेन्स से कहीं

बढ़े-चढ़े थे। स्वयं ग्रीस के प्रधान भूभाग में ही ओलिम्पिया, डेल्फी ईजिना और कॉरिन्थ की भास्कर्य के क्षेत्र की कला-कृतियाँ एटिक कलाकारों ने इसी क्षेत्र में जो कुछ भी किया उससे कहीं बढ़कर थीं।

परन्तु एथेन्स के भाग्य-विधाता देवताओं ने तो उसकी भाग्य-रेखा पर यह अंकित कर दिया था कि शीघ्र ही न राजनीतिक और नैतिक शक्ति में, न वाणिज्य-व्यापार और कला के क्षेत्र में, उसका कोई प्रतिस्पर्द्धी रहेगा। न जाने किस शुभ, किन्तु अनिर्वचनीय, योगायोग से ग्रीस की वीरता और सृजनात्मक शक्तियों के समस्त स्रोत ४७८ ईस्वी पूर्व के लगभग मानों एक साथ ही एक बिन्दु पर आकर केन्द्रित हो गए, और इसके फलस्वरूप इस युग में वहाँ कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रतिभा का ऐसा अद्भुत् प्रस्फुटन और विकास हुआ जैसा कि संसार ने इससे पहले कहीं भी कभी न देखा था, और इसके बाद में भी केवल एक बार एलिजाबेथ के काल में जिसका पुनरावर्त्तन होते देखा गया था। एक चतुर अमेरिकन कला-आलोचक मि० शेल्डान चेनी के शब्दों में, इस युग में "रंगभूमि की कला एक उच्च महिमायुक्त सौंदर्य के साथ खिलनेवाली थी, पश्चिम की दार्शनिक विचारधारा पूर्ण विकसित रूप में एकाएक प्रकट होनेवाली थी, और 'प्लास्टिक' कलाओं का एक दिशा विशेष में उस पूर्णता तक विकास होना था कि जिसमें किसी और के लिए बाज़ी मारने की गुंजाइश न थी—और यह सब होने को था आधी शताब्दी (पचास वर्ष) के भीतर ही। यह युग इस्कीलस और सार्केटीज (सुकरात), सोफ़ोक्लीज, यूरीपीडीज तथा हेरोडोटस, एवं फीडिआस, केलीक्रेटीज और एरिस्टाफ़ेनीज का युग है—यह इन्हीं का जीवन-काल है।"

डेल्फी से प्राप्त सारथी की मूर्त्ति
यह सुंदर कलाकृति पाँचवी शताब्दी के अंतिम काल की है। इससे हमें कुछ ही वर्षों बाद ग्रीस में विकसित होनेवाली कला के भव्य रूप की पूर्वसूचना मिलती है।

आज दिन इस बात के तथ्य का पता लगाना कठिन है कि एथेन्स में प्रतिभा के इस प्रस्फुटन और विकास में उसके तत्कालीन शासक पेरीक्लीज के देश-प्रेम की आंतरिक प्रेरणा और उसकी शासन-संबंधी प्रतिभा का कितना हाथ था। तत्कालीन इतिहासकारों से जो कुछ बातें मिलती हैं वे अत्यंत असंगत और संदिग्ध हैं। कुछ तो एथीनियन संघराज्य के इस अधिष्ठाता को यह कहकर ऊँचे आसमान में चढ़ा देते हैं कि यह युग पेरीक्लीज़ का ही छद्मरूप धारण किए हुए था (अर्थात् इस
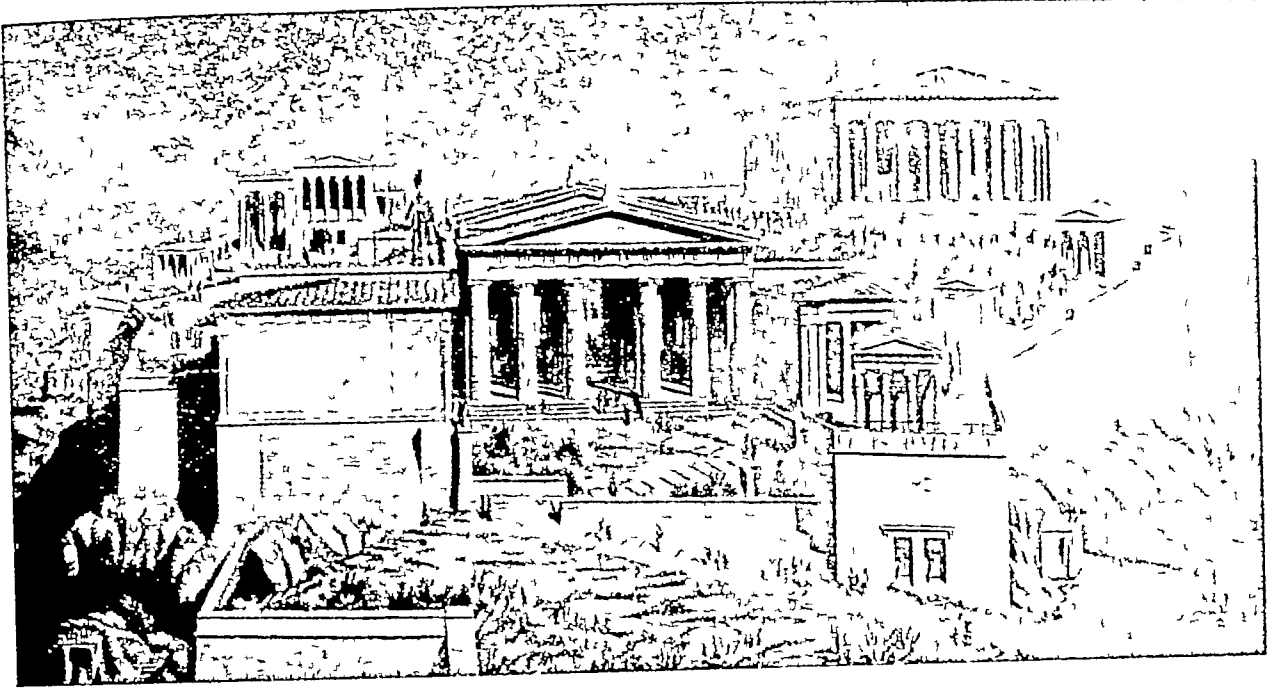
अपने गौरव के मध्याह्नकाल में एक्रॉपालिस कैसा दिखता रहा होगा

यह ध्वंसावशेषों के आधार पर बनाया गया एक कल्पित चित्र है। दाहिनी ओर सिरे पर पार्थेनन और बाईं ओर इरेक्थियम है।

युग की सारी उन्नति के नीचे पेरीक्लीज की ही प्रतिभा काम कर रही थी)। इसके विपरीत अन्य कुछ लोग उसके जीवन-विषयक अंधकारपूर्ण रहस्यों और आपत्तिजनक संबंधों—विशेषकर मिलीटसवासिनी सुंदरी एस्पेसिया (जो उसकी प्रेयसी थी) के साथ उसके मेल-जोल—की ओर इशारा करते हुए उसे गौरव-गरिमा के उच्च सिंहासन से घसीटकर नीचे ला पटकने की कोशिश करते हैं।

पेरीक्लीज के शासनकाल में स्थापत्य और भास्कर्य के क्षेत्र में अमर कलाकृतियों—विशेषकर एक्रॉपालिस और उसके सिरताज पार्थेनन—के रूप में एथेन्स के नागरिक गौरव की विशद भाव से अभिव्यक्ति हुई।

"एक समय था जब कि एक्रॉपालिस और उसके साथ-साथ पेरीक्लीज के युग की कला-संबंधी सर्वांग सिद्धि को लोग राजाओं और पुरोहितों की ग़ुलामी से पहले-पहल छुटकारा पानेवाले कलाकारों की सृजनशक्ति का अलौकिक प्रस्फुटन मानते थे। ऐसे आलोचक मिस्री ग़ुलामी के मुक़ाबले में ग्रीक स्वतंत्रता, पूर्व के रहस्यवाद के विरोध में पाश्चात्य बुद्धिवाद, तथा नीलतटवासियों की कला की गुरुता और पारलौकिकता की अपेक्षा ग्रीक स्पष्टता तथा मानवता को गौरव प्रदान करते थे। आज दिन ऐसा मालूम होने लगा है कि संभवतः इन लोगों के मस्तिष्क में खामखाह कल्पित श्रेष्ठता का भाव घर किए हुए था। इतिहास का फिर से अनुशीलन करने पर जो जानकारी हासिल हुई है उसके आधार पर आलोचकों ने अब उस निर्णय को, जिसके अनुसार प्राचीन राजवंशों के युग के मिस्री भास्कर्य को सौंदर्य की दृष्टि से एथेंस की कलाकृतियों से किसी क़द्र नीचा स्थान दिया जाता हो, बिल्कुल उलट दिया है। यह सब कुछ होते हुए भी आज दिन हम एक्रॉपालिस में अभिव्यक्ति की एक विशेष धारा की पूर्णता, प्राचीन जगत् की कला की अंतिम पराकाष्ठा तथा ग्रीक भावना की अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट मूर्त्त उदाहरण देखते हैं।"

चाहे जो भी हो, इस बात में तो विभिन्न मतवाले सभी आलोचक एकमत हैं कि पार्थेनन स्थापत्य के क्षेत्र में ग्रीक लोगों की चरम सिद्धि का उदाहरण है। पुरातत्त्ववेत्ताओं और पुरातनसंग्रहकर्त्ताओं ने विश्लेषण से परे की इस कलाकृति के मायावी सौंदर्य की परख में एक शताब्दी से भी अधिक काल तक अपने दिमाग़ लड़ाये हैं और उसकी "आकृति के दिव्य सामंजस्य" के गंभीर रहस्यों के उद्घाटन के लिए अगणित खोजें की हैं। इस बात को बताने के लिए कि ग्रीक लोगों ने इस इमारत को डोरिक आदर्शों के अनुसार सर्वांगसपूर्ण बनाने में कोई कसर न उठा रक्खी थी, स्थापत्य-विशारदों ने लंबे-चौड़े गणित के आँकड़े और उनके अनुपात तैयार किए

पायोनिश्रॉस की नाइक या विजयलक्ष्मी की सुप्रसिद्ध मूर्त्ति

यह खण्डित रूप में मिली थी। ऊपर इसका जीर्णोद्धार किया हुआ रूप है (बर्लिन म्यूज़ियम)।

में आयोनिक शैली भी ललित रूप से फूली-फली है। एथिना नाइक या विजयलक्ष्मी का मंदिर इस प्रकार की स्थापत्य-शैली का एक प्रमुख उदाहरण है। छूते ही मानो बिखर पड़ेंगे, ऐसे कमनीय सुंदर खंभों और ललित अलंकारों से युक्त इरेक्थियूम नामक भवन भी ऐसा ही है। इस भवन के दक्षिण द्वार पर वे छः मशहूर नारी-मूर्त्तियाँ हैं, जो "कॅरिएटिड्स" (Caryatids) के नाम से प्रसिद्ध हैं और सामान्य तौर पर खम्भों की जगह काम में लाई गई हैं। ऐसी स्तम्भवत् मूर्त्तियाँ या "कॅरिएटिड्स" ग्रीक-स्थापत्य के क्षेत्र में कोई नई बात या आविष्कार नहीं है। प्राचीन-युग की ऐसी ही स्तम्भवत् मूर्त्तियाँ ओलिम्पिया और डेल्फी के सुप्रसिद्ध देवालयों में—विशेषकर कॉरिन्थ, क्नाइडस, थीब्स, सिफनस, सिसिऑन, आदि विविध ग्रीक नगरों के "धनागारों" के नाम से विख्यात छोटी-छोटी इमारतों में— देखी जा सकती हैं। इन स्तम्भवत् मूर्त्तियों अथवा "कॅरिएटिड्स" का निर्माण भास्कर्य का स्थापत्य के साथ सीधे सम्मिश्रण करने का एक प्रयत्न है। यह एक अजीब-सा नवीन प्रयोग है, जो विशेषज्ञों की राय में न तो रुचिर है और न व्यावहारिक रूप से सफल ही।

है। एक प्रसिद्ध कलाप्रेमी के शब्दों में, पार्थेनन से एक गंभीर महत्ता का भाव उच्छ्वसित होता है। वह एक सरल सुस्पष्ट भवन-निर्माण शैली के विकास की साधना का अंतिम पुष्प है, जिसमें शृंगार-सामग्री अंतिम निगूढ़ सत्य को ढके या छिपाये बिना सामान्यतया उसकी शोभा बढ़ाने में ही सहायक होती है।

इस कठोर डोरिक स्थापत्य-शैली के अतिरिक्त एक्रॉपालिस

प्राचीन ग्रीस के स्थापत्य-संबंधी गौरव का एक और महान् स्मारक एक्रॉपोलिस पर स्थित सुप्रसिद्ध 'प्रोपाइलिया' या अग्र-तोरण है। यह एक देवालय-सा स्मारक तोरण-द्वार है, जिसमें पार्थेनन-जैसे महत्त्वपूर्ण मन्दिर के मुख्य द्वार के गौरव के उपयुक्त ही दो स्तम्भ-पंक्तियों के बीच प्रधान आने-जाने का रास्ता बना हुआ है, जिसके पार्श्व में डोरिक शैली में कुछ और छोटे अलिन्द भी हैं।